श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

पञ्चम भाग

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक —
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण
१०००

सन १९७०

मूल्य
१)५०

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर ।

श्री सहजानन्दशास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावोकी नामावली —

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	जगाधरी
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जीजैन,	ज्वालापुर
१३	,,	सेठ गैंदामल दगड़ू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन, संघी,	जयपुर

२२	श्रीमान्	मन्त्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरधारीलाल चिरंजीलाल जी जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन ए० इन्जीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	मक्खनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोहनलाल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,,	दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	,,	माता जी धनवतीदेवी जैन राजागंज	राजागंज इटावा
४०	,, ॐ	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४१	,, ॐ	बा० जौहरमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	कूमरीतिलैया
४२	,, ॐ	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४३	,, ॐ	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन पाटनी,	जयपुर
४४	,, ॐ	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४५	,, ॐ	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४६	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४७	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोटः—जिन नामों के पहले ॐ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सहायताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिन नामोंके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सहायताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।
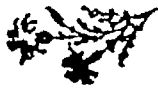
आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ विराग वितान ॥१॥
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥
सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥ ५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरो पर निम्नांकित पद्धतियो मे भारतमे अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोताओं द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमे ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रो द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एकघंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक बालिका महिला पुरुषों द्वारा ।
५—किसीविपत्तिके भी समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचि के अनुसार किसी अर्ध, चौथाई या पूर्ण छन्दका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

ज्ञानार्णव प्रवचन पञ्चम भाग

[प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज]

अस्मिन्ननादिसंसारे दुरन्ते सारवर्जिते ।
नरत्वमेव दु प्राप्यं गुणोपेतं शरीरिभिः ॥२४५॥

ध्यानपात्र नरत्वकी दुःप्राप्यताका वर्णन—इस ग्रन्थका मुख्य विषय है ध्यान। ध्यानके ही उद्यमके लिए बारह भावनाओंका वर्णन किया है। अब उस ही ध्यानके उद्यमके लिए कुछ उपदेश किया जा रहा है। हे आत्मन्! देख इस अनादिकालीन संसारमें अनेक गुणों करके सहित मनुष्यभवका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यह समस्त संसार दुरन्त है, इसका परिपाक खोटा है। संसारकी किसी भी स्थितिमें किसी भी मायामें बसने वाला पुरुष कभी निराकुल नहीं रह पाता। इसमें सार रंच भी नहीं है। ऐसे इस अनादिकालीन संसारमें ऐसा गुणी मनुष्य बनना आसान बात नहीं है। संसारके जीवोंपर दृष्टि दो तब पता पड़ेगा कि हम आप कितनी अच्छी संतोषके लायक स्थितिमें हैं।

मोही जीवोंकी तृष्णाचिताका दुष्परिणाम—अहो मोही जीव ऐसे दुर्लभ मनुष्यतनको पाकर भी सन्तोष नहीं करना चाहते। और इसी तृष्णाके कारण यह सारा मानवलोक दुःखी है। दूकानदार क्या, सर्विस वाले क्या, राष्ट्रपति क्या, सभी लोग इस तृष्णामें दुःखी हैं. और जरा संसारी जीवों पर निगाह डालकर देखो तो कैसा भी मनुष्य हो, किसी भी परिस्थितिमें हो, थोड़ा विवेक चाहिए। वह सबसे अच्छा है। आखिर यह वैभव कहाँ तक काम देगा, और ये साथी लोग कहाँ तक काम देंगे। इसमें मोहपरिणामका होना यह एक महती विपत्ति और विडम्बना है। अपना मोह अपनेको ठीक जँचता है, गलत नहीं मालूम होता। किन्तु दूसरोंपर निगाह डालकर देखो तो ऐसा लगता कि कैसा मूढ़ है. कैसा व्यर्थका यह मोह कर रहा है। दूसरेकी बात जल्दी समझमें आ जाती है पर अपनी गलती अपना मोह, अपना अपराध अपनेको बड़ा योग्य जँचता है कि हम चतुराईका ही तो काम कर रहे हैं। इसी मोहके कारणसे जीवकी ये सांसारिक स्थितियाँ

बन रही हैं। भला परमात्माके सदृश आत्मस्वरूप वाला होकर भी यह आत्मा ऐसा कीड़ा मकौड़ा पेड़ पशु पक्षी बनता रहता है। यह कितना बड़ा अंधेर है, और इतना बड़ा दण्डका मिलना यह किसी बड़े अपराध का ही कारण है। और वह बड़ा अपराध है क्या ? परवस्तुमें मोह परिणाम लाना। जिसे जो परिस्थिति मिली है उसे मोह करना बड़ा आसान लग रहा है। लेकिन यह आसान लगने वाला मोह कितना खोटा फल देगा इसका विचार नहीं कर रहा है यह जीव।

इन्द्राभिलषित नरत्व—हे आत्मन ! अपने ध्यानको सम्हाल। देख जो तूने यह नर तन पाया है यह बहुत दुर्लभ तन है। इसे देव भी तरसते हैं, इन्द्र भी तरसते हैं। इन्द्रका शरीर हाड़-मांस रहित है। उसे भूख प्यास हजारों वर्षमें लगती है। पखवारोंमें वे श्वास लेते हैं। जो चाहें वे भोग उन्हें तुरन्त प्राप्त होते हैं। हजारों देवांगनाएँ बड़ी गुणवती और इन्द्राणी बहुत गुणसम्पन्न उन्हें प्राप्त होती हैं। कितना बड़ा सुख है संसारकी दृष्टिमें, और यह मनुष्य तन हाड़ मांस, चाम वाला है, दुर्गन्धयुक्त और अनेक रोग इसमें भरे हैं तिसपर भी इन्द्र इस नरदेहको चाहता है। ऐसी क्या खूबी है जिसमें इतनी गंदी चीजें भरी हैं उसे भी इन्द्र चाहता है। आखिर इसमें कोई न कोई खूबी तो होगी ही। वह खूबी है धर्मसाधन की पात्रता। मनुष्य तप संयम ज्ञानकी उत्कृष्ट साधना कर सकता है, अनन्त कालके लिए संसारके संकटोंसे छूट जाना और अनन्त निराकुलतामें मग्न रह सकना ऐसी सिद्धि स्थितिकी प्राप्ति इस मनुष्यभवसे ही की जा सकती है।

इन्द्रसुखकी चर्चा-यह इन्द्रोंका सुख कितने दिनोंका सुख है, क्या सुख है, एक कल्पनाकी बात है। उस सुखमें भी निरन्तर दुःख बसे हुए हैं। किसीकी हुकूमत शतप्रतिशत चलती रहे यह बात असम्भव है। इन्द्रकी आज्ञा यद्यपि उन देवोंपर चलती है और जिसमें ऐसी ऋद्धियां हैं कि बड़ी से बड़ी आफतें, अशक्य काम भी क्षणमात्रमें वे कर दिखायें ऐसी उन्हें हुकूमत है। तिसपर भी पूरी हुकूमत सब कोई मान लेते हों यह बात सम्भव नहीं है। अथवा कोई कुछ मान भी ले तो अपने ही विकल्पोंको उत्पन्न करके कुछ न कुछ कमी महसूस करके दुःख माना जा सकता है। इन्द्रोंके भी सुख नहीं है। इन्द्रकी आज्ञा जितना वे कहते हों उतना ही निभा सकें यह भी पूर्ण सम्भव नहीं है। और मान लो आज्ञाको शतप्रतिशत भी निभा ले कोई तो आज्ञा देने वाला कल्पनाएँ करके कुछ कमी महसूस करने लगेगा, इसने यह बात पूर्णरूपसे नहीं निभाई। यह तो अपनी कल्पनाकी

बात है।

इन्द्राभिलषित नरदेहके लाभकी सफलताका उपाय—ऐसे कुछ एक मनुष्यों से विलक्षणसुखको पाने वाले इन्द्र हों वहाँ भी देखो तो मनुष्यकी दृष्टिसे अन्य तिर्यक् लोगोंकी दृष्टिसे तो वे संसारके सुखोंमें बढ़े चढ़े हैं, लेकिन वे भी इस मनुष्य जन्मको तरसते हैं। और यह भी सम्भव है कि हम आप किन्हीं देवगतियोंसे आये हों और वहाँ यह बड़ी लालसा की हो कि हम भी मनुष्य बनें और मनुष्य बन गए हैं, अब वे सब बातें विस्मृत हो गई हैं। जब यह अवसर आता है—तीर्थंकर विरक्त हो रहे हैं, तीन लोकके इन्द्र जिनकी सेवामें हाजिर हो रहे हैं इन सब दृश्योंको देखकर इन्द्रके मनमे ऐसी उत्सुकता न जगती होगी कि हम बडे बेकारके भवमें हैं। हम यदि ऐसे होते तो बड़ी शान्ति मिलती और यह पूज्यता मिलती। तो जिस मनुष्यभवको इन्द्र भी तरसते हैं ऐसे गुणसहित मनुष्यभवका पाना जीवोंको जो अत्यन्त दुर्लभ है वह हम आप सबको प्राप्त है। तब क्या करना चाहिए? सो सुनिये।

काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया।
तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ॥२४६॥

मनुष्यजन्मकी दुर्लभता—हे आत्मन्! तूने यह मनुष्यपना काकतालीय न्यायसे पाया है। काकतालीय न्यायका यह अर्थ है कि ताड़ वृक्ष के नीचेसे कोई कौवा उड़ता जा रहा है और स्वयं उसके टूटते हुए ताड़-फलको अपनी चोंचमें ले ले। तो यह कितनी कठिन बात है। ऐसे ही समझो कि यह मनुष्यभव बड़ी कठिनाईसे मिलता है। हम आपको मानव पर्याय मिली है। अब इसमें हम आपका एक ही कर्तव्य है। जो गुजरना हो सो गुजरे, सबमें प्रसन्न रहें। भली स्थिति हो अथवा बुरी स्थिति हो सबमें प्रसन्न रहें, सबमें समता रखें, सर्वत्र करनेका काम केवल एक यही है कि अपने आत्मामें अपने स्वरूपका निश्चय करके अपने आपमें रमण करनेका यत्न रखें। यद्यपि सम्यग्दर्शन ४ गतियोंमें उत्पन्न हो जाता है और सम्यक्त्वके होते ही अपने आत्माके स्वरूपका निश्चय हो जाता है। पर जैसी एकाग्रताके साथ इस मनुष्यभवमें अपने स्वरूपका विनिश्चय होता है ऐसा अन्य भवमें नहीं होता। जैसे कि इन्द्र भी द्वादशांगके ज्ञाता होते हैं किन्तु जितने परिपूर्ण ज्ञाता और अंग बाह्यके भी परिज्ञाता साधु हो सकते हैं वह बात इन्द्रमें नहीं पायी जा सकती। ये साधुजन श्रुतकेवली कहलाते हैं, पर इन्द्र श्रुतकेवली नहीं कहलाता। इतना बड़ा आगमका ज्ञाता होकर भी इन्द्र श्रुतकेवली नहीं है, इससे भी एक अनुमान कर लो

कि मनुष्यका मन ऐसा अनुपम विलक्षण है कि जैसा मन अन्य भवमें नहीं है। इतनी दुर्लभ बात जब अपने आपको प्राप्त हुई है तब विषयभोगोंके लिए अथवा बाह्यवैभवके संचयके लिए इतनी चिन्ता करना यह भली बात नहीं है।

लोकेषणा व तृष्णाका अहितपना—भैया! जरा चलकर हर एक मनुष्य के पास पहुंचो और टटोलो तो सही—कोई कितना ही विशिष्ट वैभव वाला क्यों न हो पर उसे उस वैभवमें सन्तोष नहीं है। वह उससे ज्यादा चाहता है। अनेक मनुष्य ऐसे हैं कि जिनकी स्थिति आजसे पहिले न कुछ थी, अब उससे कई गुना अधिक हो गई है लेकिन सन्तोष अब भी नहीं है। गुजारेकी बात तो यह है कि जो आज स्थिति है उससे भी कई गुना कम हो तो वहाँ भी यह जीवित रहेगा। वहाँ भी यह अपना उद्योग बना लेगा। लेकिन तृष्णा एक ऐसी राक्षसी है कि कितना भी वैभव मिल जाय पर चैन नहीं लेने देती। तो यह मनुष्यभव पाया है, इसका यह सदुपयोग नहीं है कि उन मायामयी लोगोंमें अपनी प्रशंसा चाहनेकी कोशिश करें, बाहरी पदार्थोंमें दृष्टि अटक जाय यह हमारा कर्तव्य नहीं है। इस मनुष्यको जब कुछ सुध आती है जब कोई कठिन विपदा आये। पर उस समय भी यदि ज्ञान नहीं है तो निर्मोहता नहीं उत्पन्न होती। निर्मोहता तो तत्त्वज्ञानसे ही होती है। जहाँ वस्तुका स्वतंत्ररूप दृष्टिमें आया वहाँ निर्मोहता आ गयी। इसका यहाँ कुछ भी तो नहीं है। यह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है। जब कुछ भी किसी अन्य वस्तुके आधीन नहीं है तो किसी भी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कुछ लगता है क्या? हे मुमुक्षु आत्मन्! तुम दुनियाकी प्रवृत्तिको निरखकर, दुनियाकी प्रतिकूलताको देखकर क्यों विषाद करते हो? तुम ही खुद कल्पनाएँ उठाते हो और दुःखी होते हो। इसी तरह दुनिया कुछ तुम्हारे अनुकूल बने, कुछ हाँ में हाँ मिलाये, कुछ राग दिखाये तो उससे तुम हर्षमग्न क्यों हो जाते हो? उससे तुम्हें सिद्धि क्या मिलेगी?

दुर्लभ नरदेहकी सफलताका यत्न—भैया अब इन बाह्यपदार्थोंकी आशा को त्यागकर अपने आत्मतत्त्वका ध्यान करें, इस आत्मध्यानसे सिद्धि प्राप्त होगी। परपदार्थोंके ध्यानसे सिद्धि तो प्राप्त क्या होगी, दुर्गतियां ही प्राप्त होंगी। कोई पदार्थ रुचिकर बन गया है तो अब लग रहे उसके रुचनेमें। शान्ति क्या पा लेंगे? जो पुरुष अपनेको अत्यन्त पर जानकर रंच भी मुझ से सम्बंधित नहीं है ऐसा प्रकट भिन्न जानकर, परसे उपेक्षा करके अपने आपमें रमण करनेका यत्न करता है उसका मनुष्य जन्म सफल है अन्यथा

करोड़ों मनुष्य लाखों मनुष्य तो आपके देखते-देखते भी गुजर गए होंगे और सैकड़ों तो आपकी आंखोंके सामने गुजरे होंगे। जरा सोचो तो सही कि उन्हें क्या मिलेगा ? अनुमान यह कहता है कि मिला क्या होगा किसी अन्य योनियोंमें जन्म मरण कर रहे होंगे, भटक रहे होंगे। हाँ उनमें जो केवल आत्मप्रेमी होंगे जिन्हें किन्हीं भी बाह्यपरिणामोंसे कोई क्षोभ न हुआ होगा और इसी कारण अपने इस परमात्मतत्त्वके ध्यानमें बड़ी सफलता मिली होगी वे ही पुरुष इस आत्मध्यानके प्रतापसे अन्य भवों में भी आत्मसंगति कर रहे होंगे और सुखी होंगे। आत्माको विश्राम अपने आपके इस कैवल्यस्वरूपमें मिलेगा। किन-किनसे प्रेम बढ़ाया, किन-किनको सहाय माना, दुनियामें भटकते रहे आखिर सब बिछुड़ गए। किसीने जवाब दे दिया, कोई प्रतिकूल हो गया, अनेक ऐसी स्थितियां बनीं कि वे सब स्वप्नके स्वप्न रह गए। सो इस दुर्लभ नरजन्मको पाकर विषयोंको अन्य प्रकारकी कषायोंमें लगाना यह सारभूत बात नहीं है, किन्तु कर्तव्य-मात्र एक ही होना चाहिए कि अपने आत्मामें अपने आत्माके स्वरूपका निर्णय करके दर्शन करके और उस ही ओर झुके रह करके अपने को आनन्दमें लीन बनायें और इस मनुष्य जन्मको सफल करें।

नृजन्मनः फलं कैश्चित् पुरुषार्थः प्रकीर्तितः।
धर्मादिकप्रभेदेन स पुनः स्याच्चतुर्विधः ॥२४७॥

चार पुरुषार्थ—विद्वान पुरुषोंने पुरुषार्थमें ही इस पुरुषकी सफलता बतायी है। पुरुषके मायने आत्मा। और अर्थके मायने हैं इस पुरुषका जो प्रयोजन है, स्वरूप है, स्वभाव है उस स्वभावके विकासका जो भी यत्न है उसका नाम पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ ४ प्रकारका होता है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्मका अर्थका अर्थ है पुण्य करना, शुभोपयोग करना, परोपकार दया करना, यह है धर्मका अर्थ। यद्यपि धर्म तो क्षोभरहित वीतराग चारित्रभावको कहते हैं, लेकिन मोक्ष जो चतुर्थ पुरुषार्थ है उसका फिर पुरुषार्थ क्या बताया जायगा ? इसलिए इस धर्मको [illegible] न लेकर ऐसे धर्मकी व्याख्या मान लें जो धन और [illegible]ता है। धनका उपार्जन पुण्यके उदयके अनुसार हुआ [illegible] काम भी, भोगसाधन भी पुण्यके अनुसार [illegible] और कामका कारण और धर्मका फल है [illegible] कहते हैं और त्रिवर्गोंकी मुख्यता [illegible] वर्ग नहीं रहते हैं उसे अपवर्ग कहते हैं [illegible] विषयभोगोंका अनुभवन ये इल्लतें

अपवर्ग नाम है मोक्षका।

विवेकके सहयोगसे त्रिवर्गकी पुरुषार्थता—तो भैया! पुरुषार्थको मनुष्य-जन्मका फल कहा गया है। और वह पुरुषार्थ ४ प्रकारका है। यहां एक शंका की जा सकती है कि विषयभोगोंका अनुभवन भी यदि मोक्षपुरुषार्थ मान लिया गया तो इसमें तो पुरुषार्थकी मिट्टी पलीत कर दी गई। यह तो अज्ञान है, बेवकूफी है, कायरता है, फिर क्यों इसमें पुरुषत्व दिखाया गया है, इसके साथ ही साथ यह भी बात जानो कि साथमें विवेक लगा हो तो यह पुरुषार्थ है और विवेक नहीं है तो कामभोग विषयके साधन, धनका उपार्जन ये क्या पुरुषार्थ हैं? विवेक है तो धनका उपार्जन भी एक पुरुषार्थ है। कमाये हुए द्रव्यको धर्मकार्यमें लगाते रहना इससे धर्मकी कितनी प्रभावना और परम्परा चलती है। और यह प्रभावना धनके बिना होती नहीं है। अब इस दृष्टिमें रहने वाले पुरुष धनका उपार्जन करें तो वह भी एक पुरुषार्थ है, और कभी लूटमार करके, डकैती करके, धोखा देकर धन बढ़ाये उसे यदि पुरुषार्थ कहने लगें तब तो अन्धेर मच जायगा।

सविवेक पुरुषार्थसे मनुष्यजन्मकी सफलता—भोग और भोगसाधनोंकी भी बात विवेकमें पुरुषार्थकी मानी गई है। एक ऐसा गृहस्थी जहां अपने परिवारमें ज्ञानका वातावरण बनाया जा रहा हो, सबका पालन किया जा रहा हो, पुत्रोंको शिक्षा सिखाई जा रही हो, योग्य बनाया जा रहा हो, यह भी तो भोग हैं। भोगके मायने केवल कामसेवन ही नहीं है किन्तु मोक्ष-मार्गरूप एक शुद्ध अंतस्तत्त्वके अनुभवनके सिवाय जो कुछ भी भाव अनुभवमें लाया जा रहा है वह सब भोग है। पत्नी विवेकशील हो, परिवार-जन विवेकशील नम्र हों, धर्मकी रुचि करने वाले हों, उनके बीच बैठकर एक गौरव अनुभवमें आता है यह भी भोग है। तो विवेकसहित धर्ममार्ग की परम्परा निभती रहे, इस परम्परासहित भोग हो तो वह भी एक पुरुषार्थ कहा गया है, और मोक्षपुरुषार्थ तो स्पष्ट ही पुरुषार्थ है। उससे बढ़कर तो कुछ बात ही नहीं है। तो इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंके करने से इस मनुष्यजन्मकी सफलता है और जिन पुरुषार्थोंसे हित है उनके न करने से मनुष्य होना बराबर है। उनके मनुष्य होने से कोई सिद्धि नहीं है।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः।
पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः ॥२४८॥

प्राचीन महर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चार प्रकारका पुरुषार्थ बताया है। पुरुषार्थ मायने पुरुषका अर्थ। आत्माका जो प्रयोजन है

उस प्रयोजनकी सिद्धिमें जो यत्न है उसका नाम पुरुषार्थ तो मोक्ष पुरुषार्थ है। मोक्षके लिए जो उद्यम होता है वह धर्म है। शेष तीन जो धर्म, अर्थ, काम हैं, पुण्य, वैभवका अर्जन और भोग पालन ये तीन त्रिवर्ग हैं। इनमें जो विवेकपूर्वक उद्यम किये जाते हैं तो ये तीन भी पुरुषार्थ हैं—आजकल मोक्ष पुरुषार्थ तो चलता नहीं है। आजके समयमें मोक्ष ही नहीं है। तो जो तीन पुरुषार्थ हैं धर्म अर्थ काम, इनमें विवेकसहित उद्यम करना चाहिए। अथवा मोक्षके लिए जितने भी उद्यम हो सकते हैं सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्‌चारित्ररूप वे मोक्षपुरुषार्थ हैं।

अहोरात्रचर्याका प्राकृतिक बंटवारा—यहां आजकल मोक्ष पुरुषार्थ नहीं होता। तो पुरुषार्थ तो नहीं है मगर जिनके बिना सरता नहीं है ऐसी चार चीजें बता दें। कहो तो तीन तो हैं धर्म अर्थ काम और चौथी चीज है मान लो नींद लेना (सोना)। तो चार काम करनेको हैं अपनेको। धर्म करना, धन कमाना, सबका पालन पोषण, देशसेवा, समाजसेवा और विषयभोग के काम हैं तथा चौथी बात है सोना, (नींद लेना)। तो चार चीजें हैं करनेकी। चौबीस घंटेका समय है। तो इस कामके लिए ६–६ घंटा समय रख लो। ६ घंटे धर्मका काम करना, ६ घंटा धन कमाना, ६ घंटा दुनियादारीके काम करना और ६ घंटे सोना। ६–६ घंटेकी कितनी अच्छी दिनचर्या अपने आप निकल आती है। जैसे कोई पूछे कि हम किस तरह चलें जिससे इस लोकमें भी सुधार रहे और परलोकमें भी सुधार रहे। तो वह चर्या बराबर-बराबर बांट दो। यही ६–६ घंटेका समय बांट लो प्रत्येक काम के लिए। यह ६–६ घंटेका समय प्राकृतिक ढंगसे बँटा है, इसमें कदाचित् थोड़ा ही हेरफेर करना पड़ेगा। सुबह जगनेके बाद करीब चार बजेके बाद ब्राह्ममुहूर्तसे लेकर ६ घंटा याने करीब १० बजे तक धर्मके कार्य करो, फिर १० बजेसे ४ बजे तक याने ६ घंटा धनोपार्जनका आजीविकाका काम करो, फिर ६ घंटा याने ४ बजेसे रातके १० बजे तक देशसेवा, समाज सेवा, परिवारके लोगोंकी सेवा, तथा भोगसेवाका काम कर लो फिर रातके १० बजेसे सुबहके चार बजे तक याने ६ घंटा निद्रा लेनेका काम कर लो। तो यह कितनी सुन्दर दिनचर्या बन गई। लो सुबह धर्मकार्योंमें मंदिर आने के लिए नहाना भी धर्मकार्यमें शामिल हो गया, आहार बनाये इस भावसे कि किसी त्यागी व्रतीको आहार देकर आहार करेंगे यह भी धर्मकार्यमें शामिल हो गया। यह काम ९॥ या १० तक चले, उसके बाद फिर आजीविकाका काम है, फिर ४ बजेसे लोकसेवा, समाजसेवा, कुटुम्बसेवा तथा भोगादिके धर्मातिरिक्त काम हैं, फिर १० बजे रातसे ६ घंटा सोनेका काम

है। तो ये ४ प्रकारके पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

ध्यान प्रसंगमें पुरुषार्थका उत्साह—यहाँ प्रकरण है ध्यानका। ध्यानके प्रकरणमें पुरुषार्थके लिए उत्साह दिलाया जा रहा है। कोई भी काम उत्साह बिना नहीं होता। जिस पुरुषको यह बात समझमें आ जाय कि और तो सब दन्दफंद हैं, व्यर्थमें दूसरोंकी सेवा करना, दूसरोंके विषय साधनका श्रम करना, मिलता जुलता कुछ नहीं। अन्तमें अकेला ही मरना, अकेला ही जन्म लेना होगा। कोई किसीका साथी नहीं। यहाँ दंदफंदोंमें पड़नेसे हित नहीं है किन्तु अपने आपके आत्माके स्वरूपकी खबर हो और उस ओर दृष्टि जगे तो इससे अपना हित है, ऐसा जिसके भाव जगा है और ऐसी ही धर्मसाधनाके लिए जिसकी उमंग उठी है वही पुरुष ध्यानमें सफल हो सकता है। इस कारण ध्यानसाधनाके लिए उत्साहित करनेके प्रयोजनमें इन चार पुरुषार्थोंकी बात कही है। अब इन चार पुरुषार्थोंकी क्या विशेषता है, उसे कहते हैं।

त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातङ्कदूषितम्।
ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ॥५४६॥

तत्त्ववेदियों द्वारा मोक्षसाधन पुरुषार्थका आदर—इन चार पुरुषार्थोंमेंसे पहिलेके तीन पुरुषार्थ तो इन विनाशीक और संसार रोगोंसे दूषित हैं—धर्म, अर्थ। और, काम तो नष्ट हो जाने वाली चीज है और सांसारिक रोगोंसे दूषित है, ऐसा जानकर जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वह साक्षात् मोक्षके साधनमें ही यत्न करता है। इन ४ पुरुषार्थोंमें सबकी दृष्टि मोक्षपुरुषार्थ की होनी चाहिए। चाहे मोक्ष पुरुषार्थ न बन सके, पर दृष्टि तो उत्कृष्ट हो, यथार्थ हो तो कुछ अपनी वर्तमान योग्यताके माफिक धर्ममें बढ़ भी सकते हैं तो इन तीन पुरुषार्थोंको तो यह जानो कि ये संसारके आतंकोंसे दूषित हैं। सांसारिक रोग इनमें पड़े हुए हैं, इनसे छूटकर केवल मोक्ष-पुरुषार्थमें ही उपयोगी रहे वह स्थिति आत्माकी हितकारी है।

निःशेषकर्मसम्बन्धपरिविध्वंसलक्षणः।
जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः ॥५५०॥

कर्मबन्धन—मोक्षपुरुषार्थ ही एक श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। उस मोक्षपुरुषार्थ की बात समझनेके लिए पहिले मोक्षका स्वरूप जानना चाहिए। समस्त कर्मोंके सम्बन्धका ध्वंस हो जाना सो मोक्ष है। कर्म दो प्रकारके हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म तो आत्माके जो विकार परिणाम हैं उन्हें कहते हैं। राग द्वेष मोह विकल्प संकल्प ये सब हैं आत्माके भाव। और द्रव्यकर्म हैं वे, उन भावोंका निमित्त

पाकर जो कार्माणवर्गणा आत्माके साथ बँध जाते हैं, द्रव्यकर्मका जो बंध होता है वह बंध ४ प्रकारकी बातोंको लिए होता है। प्रत्येक बंध में ४ खासियत है—एक उस बंधकी प्रकृति पड़ना कि यह बंध उस प्रकारका दुःख देगा, फल करेगा। एक ऐसी परिस्थिति भी होती कि दूसरी चीज बँध रही है उसका संयोग होना। और जो बँध रहा है वह कब तक बँधा रहेगा ऐसी उसमें स्थिति पड़ना, और जो बँध रहे हैं वे कितनी शक्तिसे बँध रहे हैं ऐसा अनुभाग होना। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध और अनुभागबंध कर्मोंमें लगा रहता है।

कर्ममें चार प्रकारताका दृष्टान्त—जैसे पेटमें भोजनका बंध किया तो उस भोजनमें ४ बातें होती हैं। कौनसा भोजन किस प्रकारके रसरूप परिणमेगा। कितने अंशमें यह मलमूत्ररूप परिणमेगा, कितने अंशमें खूनरूप परिणमेगा, कितने अंशमें हड्डी, वीर्य, शक्ति आदिरूप परिणमेगा। ऐसी उसमें प्रकृति हो जाती है, और वह भोजन इस पेटमें कितने समय तक बनेगा। अथवा उस भोजनका जो कि अंशरूप परिणमें, मलमूत्र, खून, आदि रूपमें कितने समय तक शरीरके साथ रहेगा, ऐसा भी उसमें निर्णय हो जाता है। और वे कितने वजनके परमाणु हैं, कितनेका भोजन है, कितने स्कंध हैं, कितने प्रदेश हैं ऐसा निर्णय हो जाना प्रदेशबंध है, और वे जो कुछ भी परिणमें उनमें कितनी शक्ति है, जितनी शक्ति मलमूत्रमें है उससे अधिक खूनमें है, उससे भी अधिक हड्डीमें है, उससे अधिक वीर्यमें तो उनमें ऐसी शक्तिकी डिग्री पड़ जाती है।

कर्ममें चार प्रकार—सो जैसे भोजनमें ४ बातें बन जाती हैं ऐसे ही जीवके साथ कर्मोंका बंध होता वहाँ भी ये ४ बातें बँध जाती हैं। कौनसी कर्मवर्गणायें किस प्रकारकी प्रकृतिरूपसे फल देंगी, कोई कर्म ज्ञानके आवरणका कारण बनेंगे, कोई कर्म जीवका दर्शन, गुण प्रकट न होने देंगे, कोई कर्म साता अथवा असातारूप परिणामके निमित्त होंगे, कोई कर्म जीवमें मोहको मिथ्यात्वको कषायोंको उत्पन्न करके कारण होंगे, कोई कर्म यह जीव शरीरमें कितने समय तक रहेगा ऐसी प्रकृतिका कारण होगा। कोई कर्म इस आत्माको ऊँच अथवा नीचकुलमें उत्पन्न करानेका कारण होगा, कोई कर्म जो जीवकी इच्छा है, दान है, लाभ है, भोग है उसमें बाधा देंगे इस प्रकार कर्मोंकी प्रकृति पड़ जाती है, यह है प्रकृतिबंध। और वे कर्म जो बँधे हैं कब तक रहेंगे इस जीवके साथ ऐसी इनमें स्थितिबंध जाय यह है स्थितिबंध। और वे परमाणु कितने बँधे हैं उन प्रदेशोंका भी निर्णय है, और वे कर्म कितनी डिग्रीके रूपमें फल देंगे ऐसा अनुभाग भी पड़ जात

है। इन चार प्रकारके बंधोंमें बँधे हुए ये कर्म जब समाप्त हो जाते हैं, बिलकुल नहीं रहते उस ही शुद्ध अवस्थाका नाम मोक्ष है। आत्मा सहज जिस स्वरूपमें है, जैसा है, केवल वही रह जाय इसका नाम है मोक्ष।

मोक्षपुरुषार्थका उद्यम—अब जिन्हें मोक्षपुरुषार्थ करना है उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि हमें क्या बनना है। हमें बनना है सबसे न्यारा, केवल याने आत्मस्वरूप रहना है। तो ऐसा होनेके लिए इतनी श्रद्धा भी है क्या कि मैं सबसे न्यारा हूं, केवल ज्ञानन्दस्वरूप हू। यदि श्रद्धा नहीं है तो ऐसा बननेका यत्न भी नहीं हो सकता। जो अपने आत्मस्वरूपका अस्तित्व न समझ सके तो उसकी वह मोक्षपुरुषार्थकी बात नहीं है ससारमें रुलनेकी बात है। मोक्ष तो नाम केवल होनेका है और उसीको केवलज्ञान कहते हैं। कैवल्यका अर्थ है केवल रह जाना। अपने कैवल्यस्वरूपका अनुभवन करे तो वह कभी केवल हो जायगा। केवल रह जानेका ही नाम मोक्ष है। यह मोक्ष ससारका प्रतिपक्षी है। संसारमें जन्म मरण है, ससारमें रुलना है, ससारमें बड़े क्लेश हैं, जिसे देखो वही क्लेशमें पड़ा हुआ है। तो उन सब क्लेशोंका प्रतिपक्षी है मोक्ष। मोक्षकी दशा जिसको प्रकट हुई है वह अनन्त आनन्दस्वरूप है। यहाँ लोगोंको बहुत डर रहता है। देशोंके आक्रमण होते हैं, आजकल बडे-बडे भयानक हथियार हो गए हैं। कहो एक ही जगह बैठे-बैठे फेंक दें तो दो तीन सौ मीलकी परिधिमें कहो कुछ न बचे, जमीनमें उपज भी नहीं हो सकती। ऐसे-ऐसे यत्र हैं जिनको सुनकर यह मनुष्य बहुत घबड़ाता है, लेकिन जो मुक्त जीव हैं, जिन्हें मोक्ष मिल गया है वे भी तो जीव हैं, उनका कोई क्या करेगा।

निर्मोहतामें भयका अभाव—यहाँ भी कोई किसी भी जगह हो, जो अपनेको मान रहा है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानान्दस्वरूप हू उसका भी कोई क्या करेगा। अधिकसे अधिक शरीर न रहेगा। शरीरको छोड़कर मैं आगे चल दूगा इतनी भी जिसके हिम्मत है उसका कोई क्या कर लेगा। ऐसी हिम्मत निर्मोह दशामें हो सकती है मोहमें नहीं। तो जो निर्मोह बन रहे हैं, निर्मोहताकी हां जिनके रुचि है उन्हें तो कुछ भी डर नहीं है। मरते समय डर तो उन्हें रहता है जिनमें मोह लगा हुआ है। मरना सबको है, और करीब-करीब लोग मोहमें ही मरते हैं। मरते समय भी मोहकी बात करेंगे, मोह ही चित्तमें बसायेंगे। कुछ शरण मिलता नहीं तो चित्त कहाँ लगे। जब वेदना होती है, मरने लगते हैं उस समय जरूर कुछ प्रभुनाम बोल लेते हैं, किन्तु प्रायः तो मोह ही बढाते हैं—फलाने लड़केको बुला दो, फलानेको तार दे दो, झट आ जाय, प्राण निकल रहे

हैं, मरते समय तो देख लें। अनेकों तो यों मोहको ही लिए मरा करते हैं। और कितना दु'ख होता होगा उस मरने वालेको जिसके मोहभाव लगा है मरते समय। तो मरणका दु:ख उनके है जिनके मोह लगा है, हाय यह घर छूट जायगा, इतना श्रम किया यह सब व्यर्थ जा रहा है। यों जिसे किसी भी प्रकारका मोह हो मरणके समयमें उसे ही क्लेश उत्पन्न होगा। जो जीव निर्मोह है उसका क्या। मेरा तो यह मैं हूं, जब भी शरीरसे विदा होऊँगा तो यह मैं पूरा का ही पूरा अपने आपके स्वरूपको लिए विदा होऊंगा। तो यह संसार और यह मोक्ष ये दोनों प्रतिपक्षी हैं। संसार तो दु:खमय है और मोक्ष आनन्दमय है। संसारमें आनन्दकी कोई झलक नहीं है और मोक्षमें क्लेशका अंश भी नहीं है। तो उस मोक्षके लिए पुरुषार्थ करें, वह पुरुषार्थ है ध्यानका। इन बाह्यपदार्थोंमें हित नहीं है ऐसा ध्यान न जगे तो अपने आपको जानूँ, मानूँ, अपने आपमें रत होऊं ऐसा ध्यान बने तो यही है सत्य पुरुषार्थ। मोक्षके सम्बन्धमें और भी वर्णन करते हैं।

दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मक्लेशैः परिच्युतम्।
चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षमात्यन्तिकं विदुः ॥२५१॥

मोक्षस्वरूप—मोक्ष उसे कहते हैं जहाँ अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द प्रकट होता है। मोक्षमार्गका सीधा अर्थ तो है छुटकारा मिलना। इस जीवको जब कर्मोंसे छुटकारा मिलता है, देहसे छुटकारा मिलता है तो उस समय इस जीवकी क्या स्थिति रहती है, उस स्थितिका बताना भी मोक्षका स्वरूप बताना है। तब स्थिति यह रहती है कि इस जीवका ज्ञान अनन्त होता है। इतना विशाल ज्ञान सीमारहित ज्ञान तीन लोकमें और अलोकमें जो कुछ भी है, तीन लोकमें अनन्तद्रव्य हैं, और लोकके बाहर केवल एक आकाश ही है। उस समस्तका जो भी सत् हो सर्व सत्को जान लेना यह अनन्त ज्ञानका काम है। और फिर यह ज्ञान इसलिए भी अनन्त है कि भविष्यमें कभी भी इसका अन्त नहीं होता। प्रकट हुआ सो हुआ। ऐसे केवल ज्ञानकी शुद्ध अवस्था जहाँ प्रकट हो उसका नाम मोक्ष है।

परस्नेहके बन्धनसे मुक्तिमें अनाकुलता—यहाँ जो मिला है किसीका भरोसा नहीं कि कब तक ठहरेगा। खेदकी बात तो यह है कि मिट जायगा फिर भी उसीसे प्रेम। कोई सार नहीं है फिर भी उसीसे मोह छोड़ दे मोह तो कुछ उद्धार हो, मगर उसे छोड़ा नहीं जाता। दुःखी भी होता जाता और छोड़ा भी नहीं जाता। जैसे जिस घरमें परस्परमें कलह भी मची हो और

ऊब भी जाते हों फिर भी घर छोड़कर कहाँ जाये। घर तो यही है। रहना तो यहीं पड़ेगा। कितनी ही मुसीबतें आयें फिर भी नहीं छोड़ा जाता। द्वेष से बड़ी मुसीबत है रागकी। पुत्र हो, स्त्री हो, पिता हो, माँ हो सभी परिवारके लोगोंमें राग रहता है। इस रागसे उनके प्रति आकर्षण बना रहता है, अत्यन्त चिन्तातुर रहते हैं। तो द्वेषकी ही बात नहीं है, उससे अधिक विपदा है रागकी। जैसे द्वेषमें भी रहकर यह जीव परको छोड़ भी नहीं सकता है तो उससे भी ज्यादा विपदा रागकी है। रागमें रहकर तो यह कभी छोड़ ही नहीं सकता है। द्वेषमें तो कभी अलग भी हो जायगा और अलग हो जानेका संकल्प भी है, मगर रागका बन्धन बहुत विकट बन्धन है। जहा ये सब रागद्वेष विकार हट जाते हैं वहा कर्मबन्धन भी दूर होता है। तब इस जीवकी शुद्ध अवस्था प्रकट होती है। वह है अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दसहित परिणति। यह मोक्ष अवस्था संसारके समस्त क्लेशोंसे रहित है। सर्व कर्म ही क्लेश हैं। सब क्लेश छूट जायें उसका ही नाम मोक्ष है।

सम्यक् ज्ञान बिना चिन्ताओंका अभाव—भैया! सबके साथ जुदे-जुदे किस्मके क्लेश लगे रहते हैं, और सबके क्लेश अपने-अपने सामने हैं। लोग सोचते हैं कि अमुक काम कर लें, दूकानको इस ढंगसे बना लें तो सब क्लेश दूर हो जायेंगे, फिर हमें कुछ नहीं करना है लेकिन बात क्या होती है कि उस दूकानकी व्यवस्था हो जानेपर फिकर और बढ जाती है। यहां कोई ऐसी बात नहीं है जिसके हो जानेपर चिन्ताएँ दूर हो जायें। कोई एक काम हो गया तो उसीमें दो चिन्ताएँ और सामने आती हैं। तो चिन्तावोंसे निवृत्त यह मनुष्य तब तक नहीं हो सकता जब तक यह सम्यग्ज्ञानको अपना आश्रय न दे, ज्ञानदृष्टि न बनाये। एक विपदा दूर हुई नहीं कि दो विपदायें और सामने आ जाती हैं। कषाय जब लगी हैं तो कुछ भी सोच लो वहीं विपदा है। बच्चे लोग सोचते हैं कि परीक्षा दे दें, पास हो जायें फिर तो मौज है। अरे मौज कहा है, फिर जौलाई आयगी, दाखिला होगा, फिर वही पिटना, परीक्षा देना शुरू होगा, ऐसे ही जगतके सभी कामोंको समझ लीजिए। एक विपदा मिटी नहीं कि दो विपदायें तैयार हैं।

जन्मातीत अवस्थाकी शरणरूपता—मेरे करने योग्य इस जगतमें कुछ काम नहीं है, यह ज्ञान जगे तो उसकी जब चिन्ताएँ दूर हों, मगर लोग तो व्यर्थमें चिन्ताएँ करते हैं और उसमें ही अपनी चतुराई समझते हैं। तब क्या करें, सिवाय तत्त्वज्ञानके कुछ भी

शरण नहीं है। इसके ही फलमें मुक्ति मिलेगी। जहां किसी भी प्रकारके क्लेश नहीं होते वह अवस्था ज्ञानान्दस्वरूप है। पूर्ण तो ज्ञान वहां प्रकट है और पूर्ण आनन्द वहां प्रकट है। ऐसा जो केवल आत्मा ही आत्मा रह गया और शुद्ध सहज गुण प्रकट हो गए उस ही अवस्थाका नाम मोक्ष है। ऐसे मोक्षके लिए जो प्रयत्न रखता है वह पुरुषार्थी संसारसे तिर जाता है। जन्म उसका ही सफल है। आगे जन्म न लेना पडे ऐसा उपाय जैसे जल्दी बन जाय उस जन्मकी सफलता है। तो इन चारों पुरुषार्थोंमें मोक्ष-पुरुषार्थ ही उत्कृष्ट है, उसके ही करनेमें हम आपका हित है।

अत्यक्ष विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम्।
विच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥२५२॥

मोक्षमें इन्द्रियातीत निराकुल सुख—मोक्ष किसे कहते हैं? जहां पर अतीन्द्रिय निविषय निरुपम स्वाभाविक विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो। आत्माकी ऐसी स्थितिका नाम मोक्ष है जहां ऐसा आनन्द निरन्तर अनुभवमें आता रहता है, जो इन्द्रियसे अतीत है, इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाला जो सुख है अर्थात् इन्द्रियका निमित्त करके आनन्दगुणका जो विकार उत्पन्न होता वह सुख नहीं है क्योंकि उसमें क्षोभ पाया जाता है। सांसारिक सुखोंको भी कोई विना क्षोभके भोग नहीं सकता। सुख भोगनेके काल में भी क्षोभ बना हुआ है, पर कल्पनामें इसने आनन्द मान रखा है, मोही उस क्षोभकी याद नहीं रखता, किन्तु संसारके प्रत्येक सुख क्षोभसे भरे हुए हैं। एक दुःखमय क्षोभ होता है एक सुखमय क्षोभ होता है। अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर बाहर-बाहर दृष्टि डालते रहना यह क्षोभ का काम है। तो इन्द्रियसुख चूंकि क्षोभसहित है, अतः आत्माका स्वाभाविक ढग नहीं है, सुख नहीं है। जहां अतीन्द्रिय सुख है वहां मोक्ष है।

पराधीनतामें क्षोभकी अनिवार्यता—क्षोभके मायने हैं समता न रह सकना, उथल पुथल होना। क्षोभका शुद्ध अर्थ समझिये उथल पुथल। ये सारे इन्द्रियसुख क्षोभसे भरे हुए हैं। वे तो क्लेश हैं। क्लेश दो तरहके हैं—एक दुःखका क्लेश और एक सुखका क्लेश। क्लेशरहित तो मोक्षकी अवस्था है, जहां इन्द्रियसे अतिक्रान्त अनुभवन आता रहता हो और एक समान परिपूर्ण शाश्वत हो उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्षमें विषयातीत सुख है। किन्हीं भी विषयोंकी सृष्टि करके किसी भी विषयपर अपना उपयोग चलाकर जो सुख माना जाता है वह सुख विनाशीक है और आकुलतासे भरा हुआ है। आखिर जिन परपदार्थोंको विषय बनाकर सुख माना जा रहा है वे परपदार्थ क्या तुम्हारे साथ चिपके ही रहेंगे? वे तो भिन्न

पदार्थ हैं, छूटेंगे। तो जब परका वियोग होगा तो इस जीवको आकुलता मचेगी। और फिर पराधीन सुख है। पराधीन सुखोंको आनन्द नहीं कहा गया है। संसारमें जितने भी सुख हैं वे सब पराधीन हैं। कोई लोग किसी मालिकके आधीन होकर ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं पराधीन हूं, किन्तु पराधीन तो वह मालिक भी है। पराधीन तो संसारके सभी प्राणी हैं। सब कर्मोंके आधीन हैं और सब परपदार्थोंपर दृष्टि रखकर परपदार्थोंकी कृपा चाहकर सुख भोगना चाहते हैं। तब सबका सुख पराधीन है। चाहे राजा हो, चाहे रंक हो, सुख सभीके पराधीन हैं। पराधीनतामें एक कल्पनाका ही तो अन्तर है, मगर सब पराधीनताके सुख क्लेशरूप ही हैं। तो जो विषयोंपर दृष्टि करके सुख माना करेगा उसका सुख पराधीन है,

मोक्षमें स्वाधीन निरुपम सुख—मोक्षका सुख पराधीन नहीं है, वहाँ किसी भी परकी दृष्टि करके आनन्द नहीं है किन्तु आनन्दस्वरूप स्वयं यह आत्मा है, और यह आत्मा समस्त परके लेपसे रहित रह गया है अतएव शुद्ध परिपूर्ण आत्मीय आनन्द प्रकट है। तो जहाँ निर्विषय आनन्द हो उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्षमें आनन्द निरुपम है उसकी किससे उपमा दें। आचार्योंने संसारी प्राणियोंको समझानेके लिए मोक्षसुखकी उपमा देनेका प्रयास तो किया है मगर उनका प्रयोजन कुछ सांसारिक प्राणियोंका आकर्षण मात्र है, उपमा नहीं है। क्या अंदाजा बताया है कि तीनों लोकके तीनों कालोंके सभी सुखी पुरुष, देव, इन्द्र सबका जो सुख हो उनके भूत, वर्तमान और भविष्यके सभी सुखोंको इकट्ठा करलो, उससे भी अनन्तगुना सुख मोक्षमें है। संसारी प्राणी इन बातोंको सुनकर खुश हो जाते हैं, लेकिन मोक्षके आनन्दकी चीज ही जब अलग है तो गुना करके भी क्या हिसाब लग सकता है? मोक्षका सुख निरुपम है, हाँ सांसारिक सुखोंमें कुछ उपमा देते जाइये, वहाँ कुछ बात चल भी जायगी, देखो इन्द्रका सुख अमुककी तरह है। अमुक राजाका सुख अमुक राजाकी तरह है, किन्तु मुक्तिके आनन्दकी उपमा कहीं नहीं है। यही कहना पड़ेगा कि मुक्तिका आनन्द तो मुक्तिकी ही तरह है। जहाँ ऐसा निरुपम आनन्द है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्षमें आनन्द स्वाभाविक है। अपने ही सत्त्वसे अपने ही स्वभावसे प्रकट होता है, वह किसी परकी अपेक्षा रखकर प्रकट नहीं होता है।

मोक्षमें अविच्छिन्न स्वाभाविक सुख—संसारके सुख स्वाभाविक नहीं हैं, वैभाविक हैं, पराश्रयज हैं। जहाँ स्वाभाविक आनन्द हो उसे मोक्ष कहते हैं। मुक्तिका आनन्द कभी नष्ट न होगा, कभी उसका विच्छेद न होगा, विच्छेद तो उस आनन्दका होता है जिसके उत्पन्न होनेमें किसी परपदार्थका

निमित्त पड़ता हो, जो उपाधिसे उत्पन्न होता है वह आनन्द पराश्रयज हुआ करता है, किन्तु मुक्तिका आनन्द हुआ करता है, किन्तु मुक्तिका आनन्द तो अपने आप होता है, अपने स्वभावसे है, आत्माधीन है, आत्माकी ही चीज है इतना भी भेद क्यों डालना कि परमात्माका आनन्द, जो आनन्द है वही परमात्मा है, ज्ञानानन्दस्वरूप कोई आत्मासे भिन्न तत्त्व नहीं, किन्तु वह शुद्ध आत्मा परम आत्मा किस प्रकारका है ऐसा लोगोंको समझानेके लिए भेददृष्टि करके ज्ञान और आनन्दकी चर्चा की जाती है, किन्तु आत्मा कोई एक पदार्थ हो और उसमें ज्ञान आनन्द भरा रहता हो ऐसी बात नहीं है किन्तु परमात्मा ज्ञानानन्दस्वरूप ही है। ऐसा जहाँ उत्कृष्ट आनन्द निरन्तर झरता रहता है उसे मोक्ष कहते हैं। ध्यानके प्रकरणमें पुरुषार्थकी बात कही गयी थी। उन चार पुरुषार्थोंमेंसे उत्कृष्ट पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ है। जिन्हें मोक्ष पुरुषार्थकी खबर नहीं है उनके धर्मपालन नहीं हो सकता है। किसे धर्म कहते हैं, क्या पालन है यह उन्हें कुछ विदित नहीं है, इसलिए मोक्षपुरुषार्थका सर्वप्रथम हमें एक प्रकाश होना चाहिए कि मोक्ष वह है जहां इस प्रकारका अतीन्द्रिय उपमारहित स्वाभाविक सुख हो।

निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
कृतार्थः साधुबोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम् ॥२५३॥

शरीर और कर्मसे रहित अवस्थाकी मोक्षरूपता—मोक्षका स्वरूप और भी बता रहे हैं कि जहां यह आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रहित हो जाता है उस पदको मोक्ष कहते हैं। इस आत्माके साथ बाहरी द्रव्य दो प्रकारके लगे हैं - एक नोकर्मवर्गणा और एक कर्मवर्गणा। नोकर्म मायने शरीर जो हम आप सबको दिख रहा है, यह सब नोकर्म है, उपाधि है, परतत्त्व है, यह भी जीवके साथ लगा है। कहीं भी जीवसे शरीरको न्यारा नहीं पाते। इस ही शरीरको हम देख पाते हैं कि यह जीव है और उस ही शरीरको निरखकर हम एक व्यवहार करते हैं। शरीरसे जीव पृथक् नहीं है। इस समय उस शरीरमें बना हुआ है, लेकिन वस्तुतः तो पृथक् ही है। स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो शरीर और वस्तु है, ज्ञानात्मक जीवतत्त्व और वस्तु है, लेकिन जब तक हमें इसका संयोग है, मेल है, बन्धन है तब तक संसार है। जब इसका बन्धन टूट जाता है, खालिस आत्मा रह जाता है उस ही का नाम मोक्ष है।

जीवके साथ शरीर और कर्मकी उपाधि—देखो भैया! एक उपाधि है शरीरकी और दूसरी है द्रव्यकर्मकी। ऐसी सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें बन्धनको प्राप्त हैं। जिन्हें न हम आंखोंसे देख सकते हैं और न कानोंसे टटोल सकते

हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं। यद्यपि उतने परमाणु लगे हैं जितने शरीरके परमाणु हैं उससे अनन्त गुणे। इतना बड़ा पिण्ड होकर भी मरनेपर जीवके साथ ये समस्त कर्म जाते हैं और वज्रपटलको भी बिना आघात किये भेदकर चले जाते हैं। न वज्रपटलका नुकसान होता है और न जीवसे कर्म छूटते हैं। इतने सूक्ष्म जीवकर्म हैं जो जीवके साथ लगे हैं। और, अनुमान करो कि जब कोई मनुष्य कुछ अपराध करता है तो अपराध करने के कारण आसपासका वातावरण गंदा हो जाता है, और उस अशान्त वातावरणका इसपर जो प्रभाव पड़ता है वह अशान्त वातावरण क्या है। पुद्गलका ही तो परिणमन है। तो जब जीव अपराध करता है तो इसके अपराधका निमित्त पाकर कोई सूक्ष्म एक ऐसा वातावरण है जो जीवके साथ बँध जाता है, ऐसे उपाधिभूत सूक्ष्मकर्मपरमाणु भी इस जीवके साथ लगे हैं। तो कर्म और शरीर दोनोंसे जब आत्मा रहित हो जाता है तो उसे मुक्ति कहते हैं।

निष्कल अवस्थाकी मोक्षरूपता—यह आत्मा निष्कल है। लोग कहते हैं कलह मत करो। कलसे सम्बन्धित कलह है मायने शरीरकी क्रियायें—आना, जाना, बोलना उछल कूद, दखल देना आदि। तो कलह बुरी चीज है। उस कलसे जो रहित है उसे मुक्त कहते हैं। जहा पर अशरीरता है, केवल ज्ञानप्रकाश ही है उस पदको मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष पद शान्त है अर्थात् क्षोभरहित है। समुद्र एक शान्त बना हुआ है, किन्तु जरासी हवा चल जाय तो उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है, लहरें उसमें मचा करती हैं और कोई-कोई लहर ४-५ फिट ऊँची उठ जाती है समुद्रमें तो समुद्रके किनारे खड़े हुए मनुष्योंको बहा ले जाती है। एक तो ऐसा क्षोभ होता है और उस समुद्रके ही भीतर कोई मगर, मच्छ सास ले ले तो उससे भी अन्दरसे क्षोभ उत्पन्न होता है, वह भी एक क्षोभ उत्पन्न होता है, वह भी एक क्षोभ है। ऊपरसे कोई कंकड़ पत्थर डाले तो उसमें एक गोल लहरसी उठती है वह भी क्षोभ है। समतलसे रहने वाले समुद्रमें कुछ भी विकार आना वह सब क्षोभ है, इसी तरह रागद्वेषरहित निर्मोह अवस्थासे उत्पन्न होने वाला जो साम्यभाव है, धैर्य है उसमें विकार आना, उसका बिगाड़ होना वह सब क्षोभ है। चाहे वह स्पर्शनइन्द्रियके सुखसे उत्पन्न हुआ हो चाहे रसना आदिक इन्द्रियके सुखसे उत्पन्न हुआ हो वह सब क्षोभ है, वहा आनन्द नहीं है। जहा क्षोभरहित दशा है उसे मोक्षपद कहा करते हैं।

मोक्षकी स्वभावनिष्पन्नता—यह मुक्तिपद एक निष्पन्नरूप है, आत्मा का परिपूर्ण शुद्धरूप है। दो प्रकारके योग होते हैं—एक आरब्धयोग और

एक निष्पन्नयोग। ध्यान करना आरम्भयोग है और ध्यानकी साधना होने पर जो एक स्थिरता आती है वह है निष्पन्नयोग। ऐसे स्थिर ध्यानका नाम है निष्पन्नयोग। ऐसा निष्पन्नयोग जब आत्मामें परिपूर्ण शुद्ध दशा प्राप्त कर लेता है, जहाँ शरीर नहीं, क्षोभ नहीं ऐसी स्थितिको कहते हैं निष्पन्न-स्थिति वाला। सिद्ध भगवान पूर्ण शुद्ध हैं। तो जहाँ ऐसी निष्पन्नता प्रकट हो इसे मोक्ष कहते हैं। यह प्रभु अत्यन्त अविनाशी सुखस्वरूप है, जहाँ अविच्छिन्न आनन्द प्रकट होता है उसे मोक्ष कहते हैं। सबसे खास बात है कि वहाँ कृतकृत्यता प्रकट हो जाती है। संसारके प्राणी मुझे यह काम करना है, यह काम करनेको पड़ा है इस ही ख्यालमें दुःखी बने हुए हैं। जो भी यहाँ कुछ सुख अनुभव करता है उसे सुख तो मिला है इस बातका कि कुछ समयको उसके चित्तमें यह बात आयी है कि मुझे करने को अब कुछ रहा नहीं, पर माना उसने यह है कि यह पदार्थ हमारा बन गया, इससे मुझे सुख मिला है। इस कारण ऐसी दृष्टि करनेसे उस सुख का भी सही उपयोग नहीं कर पाता।

कृतार्थताका मर्म और प्रभाव– जितने भी सुख होते हैं उन सुखोंका मूल उपाय और उनकी मूल पद्धति यह है कि जब विकल्प कम हों तब ही सुख है। मुझे करनेको कुछ नहीं रहा इसका आनन्द है। किसी चीजको आप लिख रहे हैं हिसाब या लेख तो उसके पूरे हो जानेपर आप कितना सुख और विश्राम मानते हैं। वह सुख काहेका है ? जो करनेको काम था वह अब नहीं रहा इसका सुख है। काम पूरा होनेसे सुख नहीं मिलता किन्तु काम करनेको न रहनेसे सुख मिलता है। बात एक है। जैसे लोग कहते हैं कि अब बस, हमारी तो सब इच्छा पूर्ण हो गयी। इच्छा पूर्ण हो गयी का मतलब क्या ? इच्छा नष्ट हो गयी। उसीको नष्ट होना कहो उसीको पूर्ण होना कहो, एक ही बात है। शायद विज्ञान वाले लोग जब कोई काला रंग ज्यादासे ज्यादा काला करें तो उसकी चरम सीमापर पहुचनेपर तो सफेद हो जाता होगा। तो काम पूर्ण हो चुका अर्थात् अब वह काम करने को नहीं रहा। मेरी इच्छा पूरी हो गई, मतलब मेरी इच्छा नष्ट हो गयी। तो वहाँ इच्छा नष्ट होनेका आनन्द आया, पूर्ण होनेका आनन्द नहीं आया। बात यद्यपि एक है मगर पूर्ण होनेसे आनन्द आया ऐसी दृष्टि पराधीन है, और इच्छा न रहनेसे आनन्द आया ऐसी दृष्टि स्वाधीन है। तो जहाँ ऐसी कृतकृत्य दशा प्रकट होती है उस पदको मोक्ष कहते हैं।

मोक्षमें परम निराकुलताका अनुभवन—मोक्षमें न परिवार है, न वैभव है, न घर है, न रसोई है, न खाना पीना है, न नाते रिश्तेदारी है, न काम-

काज हैं। यहा कहते है कि हमको तो जरा भी फुरसत नहीं है और जिसके पास फुरसत है उसका चित्त बेकार हो जाता है, मन नहीं लगता है, और अधिक फुरसतमें रहे तो दिमाग भी खराब हो जाता है। यहा तो यह हालत होती है और वहा मोक्षपदमें सारी फुरसत ही फुरसत है, वहा करने को कुछ काम ही नहीं है, तब वहा क्या गुजरती होगी। यहा तो फुरसत मिलनेपर कितना दु ख है, चित्त बेकार हो जाता है। तो यहा चित्त चाहता है काम करनेको पर काम मिल नहीं रहा है तो वह फुरसत रही है। इसके समाधानमें सुनिये--सिद्धपदमें ऐसी कृतकृत्यता प्रकट होती है कि वहा आकुलता नहीं है। यहां ससार अवस्थामें भी सम्यग्दृष्टिका जो आशय है, ज्ञान है उस ज्ञानमें भी कैसी सुन्दर कृतकृत्यता बसी हुई है। सभी प्रत्येक पदार्थ अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे परिपूर्ण हैं। कोई पदार्थ अधूरा नहीं है, जो पदार्थ जिस स्वभावका है वह अपनेमें परिपूर्ण है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिपूर्ण रहते हैं। जब यह जीव विकास करता है तब भी पूराका ही पूरा रहता है और जब निगोद जैसी निम्न गतियोंमें पहुचता है तो वहा भी यह पूराका ही पूरा रहता है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें हैं, किसी अन्य पदार्थमें किसी पदार्थका प्रवेश नहीं, परिणमन नहीं, सभी पदार्थ स्वतत्र हैं। मैं किसी परका क्या कर सकता हू। जो भी मैं किया करता हू वह अपने आपके गुणोंमें अपने आपका परिणमन करता हू। अन्यत्र जो कुछ होता है उन्हीं गुणोंमें उनका परिणमन होता है। मैं किसी पदार्थमें कुछ करता ही नहीं, अतएव किसी परमें मुझे कुछ करनेको पडा ही नहीं, क्योंकि किया ही नहीं जा सकता। वस्तुका स्वरूप अकाट्य है। ऐसे निर्णयपूर्वक ज्ञानी पुरुषके यह भाव रहता है कि जगतमें मेरे करनेको कुछ नहीं है।

ज्ञातृत्व अवस्थाका वैभव—आज वैभव है, उसकी व्यवस्था है, ठीक है, उसके भी ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए। कभी दारिद्र्य आ जाय तो वह भी एक स्थिति है। ज्ञानीको न तो उस वैभवसे कोई प्रसन्नता है और न दारिद्र्यमें कोई अप्रसन्नता है। वह अपने आपको ऐसा ही देख रहा है। मैं तो उतना का ही उतना हू। घट नहीं गया। बल्कि एक विकास दृष्टिसे देखो तो यह भी सम्भव हो सकता कि जब वैभव हो तब यह जीव घट गया हो और जब वैभव न रहा हो तो यह जीव विकसित हो गया हो। याने लौकिक दारिद्र्य में तो कुछ विकास कर गया हो और वैभव पाकर कुछ पतन कर गया हो। यह भी सम्भव हो सकता है। तो ज्ञानी पुरुष सासारिक स्थितियोंमें हर्ष और विषाद नहीं मानता, उनका ज्ञाताद्रष्टा रहता है। सम्यग्दर्शनके अगमें

होता है एक निर्विचिकित्सा अग। उसका व्यावहारिक अर्थ लोग यह लगाते हैं कि साधुजनोंकी, धर्मात्मा जनोंकी सेवा करते हुए ग्लानि न करना। जैसे मोहमें तो अपने बच्चेकी नाक, टट्टी, मूत्र वगैरह साफ करनेमें तो कुछ ग्लानि नहीं मानते, ऐसे ही धर्मात्माजनोंकी सेवा करते हुएमें किसी भी प्रकारकी ग्लानिका न आना सो निर्विचिकित्सा अग है। ज्ञानी पुरुष हर्षके साधनोंमें हर्ष नहीं मानते और प्रतिकूल साधनोंमें विषाद नहीं मानते। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मामे भी ग्लान नहीं होता है। ग्लान उसे कहते हैं जो पथसे भ्रष्ट हो जाय। तो सम्यग्दृष्टि जीव कैसी भी स्थितिया गुजरें, सबका ज्ञाताद्रष्टा रहता है, उनमें क्षोभ नहीं करता। यह परमार्थसे निर्विचिकित्सा अग है।

परिपूर्ण शुद्ध आत्मविकासकी मोक्षरूपता--जहाँ परिपूर्ण शुद्ध आत्मविकास है उसे मोक्ष कहते हैं। मुक्तिमें एक ज्ञानज्योति ही प्रकट है। ज्ञानस्वरूप ही विकसित हुआ है। ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप जहाँ परिपूर्ण विकसित होता है उसे मोक्ष कहते हैं, और ऐसी परिपूर्णताका अपने आपमे यत्न हो, योग ध्यान, भेदविज्ञान, आत्मध्यान तपश्चरण, सयम ये सभी मोक्षपुरुषार्थ कहलाते हैं। इन चार पुरुषार्थोंमें सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थ है। जो जीव मोक्षपुरुषार्थसे भ्रष्ट हैं अथवा मोक्षपुरुषार्थसे अपरिचित हैं ऐसे पुरुषोंका धर्मपालन नहीं होता। न उन्हें द्वेषसे शान्ति आती है, न कल्पनाएँ करके कुछ भी सुख पाते हैं, वे सदा आकुलित रहा करते हैं। अपने कैवल्यस्वरूपको जानें, ज्ञानानन्दस्वरूपकी दृष्टि रखें, निरन्तर उसको ही सर्वस्व समझें, उससे ही आत्माका हित मानें और बाकी सारा वैभव तृणवत् असार है, ऐसा अपना अतःप्रकाश जगे, बस पुरुष तो वही है, वही मोक्षपुरुषार्थी है, ऐसे मोक्षपुरुषार्थका हम आप सभीको यत्न अधिकसे अधिक करना चाहिए।

तस्यानन्तप्रभावस्य कृते त्यक्त्वाखिलभ्रमा'।
तपश्चरन्त्यमी धीरा' बन्धविध्वसकारणम् ॥२५४॥

निर्भ्रान्त आत्मार्थो द्वारा निर्बन्धताके अर्थ तपका आचरण—धीर वीर पुरुष इन अनन्त प्रभावों वाले मोक्षरूप कार्यके निमित्त समस्त भावोंको छोड़कर कर्मोके कारणरूप उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं। अभी मोक्षपुरुषार्थ का वर्णन किया था जिसमें मोक्षका स्वरूप दिखाया है। मोक्षमें आत्माका पूर्ण शुद्ध विकास है, मोक्षमें आत्मीय शुद्ध आनन्द है और मोक्ष की जो शुद्ध अवस्था है उसका कभी भी विनाश नहीं होता है अर्थात् सदाकालके लिए अनन्त आनन्दमय होना यह मोक्षमें पाया जाता है। मोक्षरूप कार्यके लिए जो विवेकी पुरुष हैं, ज्ञानी संत हैं वे अन्य समस्त

भ्रमोंको छोड़ देते हैं। जगतसे उनका फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता। वे किसी भी बाह्यसाधनमें अपना उपयोग नहीं लगाते। किसी भी परपदार्थ से अपना हित नहीं समझते हैं, किसी भी परपदार्थको करनेका भाव नहीं रखते हैं। और किसी भी परसे हमें आनन्द मिलता है ऐसा भी उनके भ्रम नहीं है। सर्वप्रकारके भ्रमोंको छोड़कर वे तपश्चरणको अंगीकार करते हैं। यह तपश्चरण समस्त कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ है। कर्म कहो कष्ट कहो, तपश्चरण उन कष्टोंको दूर करनेमें समर्थ है इस कारणसे विवेकी पुरुष समस्त सांसारिक कार्योंको छोड़कर मुनिपदको धारण करते हैं।

निष्परिग्रहतामें मौन, साधुता एवं योग—मुनिका अर्थ है जो तत्त्वकी बातका मनन करे। साधुका अर्थ है जो आत्माके विकासकी साधना करे, योगीका अर्थ है जो अपने आत्माको अपने स्वभावमें लगाये। ये सभी बातें एक मोक्षके उद्यमका समर्थन करती हैं। ये साधु जब सर्व आरम्भ और सर्वपरिग्रहोंको त्याग देते हैं तब साधु होते हैं। केवल आत्माका शुद्ध विकास चाहिए है तो दृष्टिमें केवल आत्मा ही आत्मा रहे। और यह बात तब बनेगी जब कोई आरम्भ और परिग्रह न लगा रखा हो। इस कारण आरम्भ और परिग्रहको त्यागकर साधु पुरुष एक इस मोक्षपुरुषार्थकी साधना करते हैं।

सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम्।
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभि स्फुटम् ॥१४॥

रत्नत्रयकी मुक्तिकारणता—जिनेन्द्र भगवान सम्यग्ज्ञान आदिकको मुक्तिका कारण कहते हैं। मुक्तिके मायने छूटना। किससे छूटना? आत्मा के पारिणामिक भावोंसे हैं। अरे स्वभावसे उत्पन्न होने वाले विकासके अतिरिक्त जितने भी परभाव हैं उन परभावोंसे छूटनेका नाम मुक्ति है। तो यह मुक्ति कब बने? जब पहिले यह श्रद्धा हो कि मेरा स्वरूप इन परतत्त्वोंसे पृथक् ही है। जिसको अपने स्वभावके परसे पृथक् रहनेकी श्रद्धा नहीं है उसका उद्यम नहीं बन सकता कि वह परभवसे छूट सके। तो पहिले जो काम करना हो उसका श्रद्धान चाहिए। लोकमें भी व्यापार करने वाले व्यापारका श्रद्धान रखते ही हैं। और आरम्भ करने वाले लोग उस आरम्भमें क्या लाभ है उसकी श्रद्धा रखते ही हैं। इस प्रकार जिन्हें मुक्त होना है उन्हें यह मेरा आत्मस्वरूप स्वभावसे परभावोंसे छूटा हुआ है, मुक्त ही है, ऐसी श्रद्धा चाहिए और फिर स्वतंत्रस्वरूपको निरखकर वहाँ ज्ञान बनाये रहें यह सम्यग्ज्ञान चाहिए। और फिर ऐसा ही ज्ञान बनाये रहें ऐसा चारित्र चाहिए। तो यह सम्यग्दर्शन, सम्य

ज्ञान और सम्यक्चारित्र मुक्तिका कारण है।

चारित्रका स्वरूप—चारित्रका विशुद्ध स्वरूप यह है कि ज्ञान स्थिर रहा करे। जैसा यथार्थ ज्ञाता है वैसा ज्ञान बराबर रहा करे उसका नाम चारित्र है। इस उपयोगमें जब कभी शिथिलता होती है, कोई प्रमादभाव आता है, विकार आता है, सो इसे दूर करनेके उपायमें जो भी व्यवहारमें किया जाता है उसे भी चारित्र कहते हैं। जैसे १२ प्रकारके तपश्चरण करना, अनशन करना, भोजन त्याग देना, यह सब कुछ बाह्य प्रवर्तन निश्चयतः मुक्तिका कारण नहीं है और भोजन करना भी मुक्तिका कारण नहीं है, किन्तु मुक्तिका कारण है ज्ञानका निरन्तर विशुद्ध बना रहना।

किसी परका सम्बन्ध न हो, किसी परउपाधिके निमित्तसे कोई विकार उत्पन्न न हो, उपयोगमें केवल यह मैं ही मैं रहूं ऐसी भावना बने तो यह केवल बन सकता है। और केवल बननेका नाम ही मुक्त होना है।

भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् ॥२५६॥

भवक्लेशविनाशनार्थ ज्ञानसुधारसका पान—हे आत्मन्! तू संसारके क्लेशोंके विनाश करनेके लिए ज्ञानरूप सुधारसको पी, जहाँ अपना यथार्थ बोध किया वहाँ क्लेश तुरन्त दूर हो जाते हैं, और जब अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति न रखकर अन्य अन्य अवस्थाओंरूप अपनेको माना कि वहाँ क्लेश उत्पन्न हो जाता है। सर्वक्लेशोंसे मुक्ति पाना इतना बड़ा काम केवल इतनी-सी भीतरी बातपर निर्भर है। अपनेको पररूप मानना, ऐसा तो क्लेश पानेका उपाय है। और, अपनेको अपने सत्त्वके कारण जितना जैसा हो उतना ही माने, यही क्लेशोंसे निवृत्त होनेका उपाय है। सिर्फ माननेसे ही संकट लगते हैं और माननेसे ही संकट छूटते हैं। अपने आपको अपने स्वरूपमें ही मानना और यह दृढ़तासे मानना बन जाय और इस ही प्रकार अपने आपको निरन्तर जानते रहें तो इसमें रत्नत्रय अपने आप आ जाता है। एकाग्रताका होना ध्यान है। अब एकाग्रता किसपर करना है जिसके फलमें मुक्ति प्राप्त होती है। तो केवल होनेका नाम मुक्त होना है ना। केवल बनना है तो केवलस्वरूपकी ओर एकाग्रता हो तो इस ध्यानसे केवल बननेका उपाय बन सकता है।

स्वावबोधके कार्यकी असुगमताका अभाव—भैया! अपनी बात अपने लिये बहुत सुगम है। सुगम उसके लिए है जिसे विशुद्ध बनना है, और जिसका चित्त विषयसाधनोंमें ही बसा हुआ है उसके लिए यह बात कठिन है। मैं जो हूं वही अपनेको मानता रहूं इसमें क्या कठिनाई है? कुछ भी कठिनाई नहीं है लेकिन जब विषयवासनासे चित्त कलुषित है तो उस चित्त में यह बात नहीं समा पाती है। और, ऐसी वासनासे दूषित चित्तको दूर करने के लिए, वासना संस्कारको मिटाने के लिए हमें इस कैवल्यस्वरूपके ज्ञानका अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए स्वाध्याय करें सत्संगति बनायें, इसकी धुन रखनेका यत्न करें, चर्चामें रहें, बाहरी पदार्थोंमें, लोगों के संगमें हम पक्षको, रागको, द्वेषको न उत्पन्न करें। ऐसे ही ऐसे ही सब काम जब अपने अनुकूल जुटने लगते हैं तो इसकी दृष्टि अपने आपपर जमती है, स्थिर होता है। यह काम नहीं किया इसी कारण अब तक संसारमें रुलते आये, और जब भी संसारसे रुलना छूटेगा तो इसी कार्यके

प्रसादसे ही छूटेगा। हम अपने कैवल्यस्वरूपको जानें और उसको ही जानते रहें इतनी प्रक्रिया अन्दरमें चलेगी तो वह केवल हो सकता है। उसके लिए एक आत्माके ध्यानका ही मुख्य सहारा है।

भवसागरसे उत्तीर्ण होनेके लिये ध्यानपोतका आलम्बन—इस संसार सागरसे पार होनेके लिए ध्यानरूपी जहाजका आलम्बन हमारे विकल्प-संकटसमोचन कार्यको सिद्ध कर सकता है। जैसे कोई समुद्रमें पड़ा हो तो उसे नाव मिले, जहाज मिले, उसका आश्रय करे तो वह पार हो जाता है इसी प्रकार भवसागरमें हम डूब रहे हैं, गोते खा रहे हैं, हमको ध्यानरूपी नावका सहारा मिलना चाहिए। यह बात कठिन नहीं है। हम सब अपने अनुभवसे समझते हैं कि जब हम अपनी ओर झुकते हैं तो कितने ही क्लेश शान्त हो जाते हैं। जब हम अपनेसे बाहर निकलकर बाह्यपदार्थोंमें रमते हैं तो हमें क्लेश उत्पन्न हो जाता है। अपनी दया करना है, अपनेको शान्त बनाना है, विशुद्ध रखना है तो बस अपने आपके शुद्धस्वरूपका अर्थात् कैवल्यस्वरूपका ज्ञान करें, उसकी रुचि रक्खें, उसमें यह अपना पक्का निर्णय रखें कि मेरा हित मेरा आनन्द मेरा कल्याण तो एक केवल इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनामें है। शुद्धका मतलब है कि यह मैं अपने स्वभावसे अपने सत्त्वसे अपने मात्रस्वरूपसे जैसा मैं होऊँ उसका नाम है शुद्ध। जैसे इस समय विकारपरिणमन चल ही रहे हैं, इन विकारपरिणमनोंसे हम यदि हटना चाहें तो हमें शुद्धवस्तुका सहारा लेना चाहिए।

प्रभुके ध्यानमें शुद्धताका प्रसंग—प्रश्न—शुद्ध वस्तु तो हैं अरहंत और सिद्ध। क्या उनकी ही दृष्टि रखकर उनका सहारा लेकर हम शुद्ध बन सकते हैं? उत्तर—इसमें दो बातें विचारना है। प्रथम तो यह है कि कोई भी जीव किसी भी दूसरे जीवका सहारा ले भी नहीं सकता है क्योंकि परिणमन प्रत्येक पदार्थमें उसमें उसका ही स्वयंका होता है, परके स्वरूपसे नहीं, तो प्रथम तो कोई भी पुरुष किसी भी अन्यका सहारा नहीं ले सकता है। जैसे मोहमें लोग कल्पना तो करते हैं, अपने पुत्रका, पिताका, मित्रका सहारा लेते हैं और उस रूप अपना दिल बनाते हैं, पर वस्तुतः वहाँ भी कोई किसी दूसरेका सहारा नहीं ले रहा है, किन्तु अपनी ही उस प्रकारकी कल्पनाएँ बना रहा है जिस कल्पनामें परका शरण लेना विषय पड़ा हुआ है। तो प्रथम तो अरहंतसिद्धका आलम्बन कोई लेता नहीं, किन्तु आश्रय उनका विषयमात्र है जैसा कि हम समझते हैं उनमें। तब भिन्न पदार्थ हैं, परपदार्थ हैं, सिद्ध हैं वे प्रभु लेकिन उनके सहारेसे यह शुद्धताका विकास होता है। सहारा तो प्रत्येक जीव अपना ही लिया करते हैं। जब कभी

विकारका सहारा लेते हैं तो विकृत बनते हैं और जब अपने शुद्धस्वरूप का सहारा लेते हैं तो शुद्धस्वरूप बनते हैं। अब यहाँ एक बात यह है समस्या की कि अशुद्धका सहारा लेनेसे भी काम नहीं बनता, परका सहारा लेनेसे भी काम नहीं बनता और निज है अशुद्ध तो फिर किसका सहारा लें कि इसका काम बनने लगे। वहाँ बस एक यह बात समाधानकी आती है कि भले ही यह निज आत्मा इस समय अशुद्ध है, रागद्वेषरूप परिणमन भी करता है किन्तु प्रत्येक पदार्थका स्वरूप अर्थात् सत्त्व त्रिकाल शुद्ध रहता है, अर्थात् किसी भी पदार्थके सत्त्वमें किसी अन्य पदार्थका सत्त्व प्रवेश नहीं करता है। भले ही बंधन हो, संयोग हो, बड़ा निमित्तनैमित्तिक भाव भी हो तिसपर भी किसी पदार्थके सत्त्वमें किसी अन्य पदार्थका सत्त्व नहीं लगा रहता है। बस शुद्ध निजस्वभावका आश्रय लेनेसे शुद्धता प्रकट होती है।

ज्ञानकी बेरोकटोक गति— सहज सिद्ध निजस्वरूपका हम ज्ञान तो कर सकते हैं। ज्ञानको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं है। जैसे आप यहां बैठे हैं, आपके घरमें किसी कोठरीमें सन्दूकके भीतर कोई छोटी पोटली रक्खी है, उसमें आपकी कोई कीमती चीज बंधी है तो आप उसे यहां बैठे-बैठे जान सकते हैं, आपके जाननेमें भींत, किवाड़ आदि कुछ भी रोक नहीं करते। इसी तरह हम अपने आत्मस्वरूपको जानना चाहें तो यद्यपि बीचमें शरीर इन्द्रियके आवरण हैं, रागद्वेषके परिणमन हैं, ये सब बीचमें आडे आते हैं तिसपर भी ज्ञानको कोई रोक नहीं सकता है।

आत्मध्यान संसारमारक—हम आप विषयोंमें रमते हैं, वहीं अटकते हैं। इसी कारण अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं जान पाते हैं। फिर भी अर्थात् पर्याय अशुद्ध होनेपर भी अन्तःस्वरूपको स्वभावको निरखिये तो वह शुद्ध है। अपने ज्ञानसे एक ऐसी जानकारी बना सकते हैं कि केवल अपने स्वरूपसे मैं कैसा हुआ करता हूं। यों सहज त्रैकालिक स्वतःसिद्ध अन्तस्तत्त्व का आलम्बन ही अपने निजस्वरूपका आलम्बन है, इसमें यह सामर्थ्य है कि क्लेशोंको, चिन्ताओंको, बन्धनोंको, सर्वसंयोगोंको इन सबको दूर कर सकते हैं। तो उस शुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यानरूपी जहाजका आलम्बन लेने से यह संसारसागर तिर लिया जाता है।

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः ।
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः ॥२५७॥

मोक्षकी सिद्धिका उपाय—मोक्ष कर्मोंके क्षयसे ही होता है, और कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञानसे ही माना गया है। और, सम्यग्ज्ञान ध्यानसे साध्य माना गया है। इस कारण ध्यान ही आत्माका हित है। आत्माका परमहित

तो वह अवस्था है जहाँ आकुलता नहीं रहती। आकुलता मोक्षमें नहीं है। ऐसा सोचते समय कोई स्थान विशेषका ख्याल न रखना कि तीनों लोकमें सबसे ऊपर जहाँ सिद्धभगवान विराजे हैं उस स्थानका नाम मोक्ष है। और उस जगहमें सुख पड़ा हुआ है ऐसी दृष्टि नहीं करना है, क्योंकि ऐसी दृष्टि करनेमें इस दृष्टिने परका आलम्बन किया, परपदार्थको विषयरूप किया, तो परका जहाँ आलम्बन लिया हो वहाँ तो यह मोक्षरूपकार्य नहीं हो सकता है। एक बात, दूसरी बात यह है कि जिस मोक्षस्थानको लक्ष्यमें लेकर कोई यह ख्याल करे कि मोक्षमें अनन्त सुख है तो उस मोक्षके स्थानमे जिसको कि हमने कल्पना करके माना है उस स्थानमें अनन्त निगोदिया जीव भी पड़े हुए हैं। देखिये वह स्थान या तो बहुत विशुद्ध परमशुद्ध आत्मावोंसे भरा है या तो मलिन आत्माओंसे भरा है। बीचके लोग वहाँ नहीं हैं। मध्य श्रेणीके लोग वहाँ नहीं हैं वहाँ निगोद जीव हैं, एकेन्द्रिय जीव हैं या सिद्ध परमात्मा हैं। तो मोक्षस्थानमें सुख है, यह बात नहीं कही जा रही है किन्तु जो मोक्ष अर्थात् सब परभावोंसे छुटकारा होकर अपने आपका जो प्रताप वर्तमान है उसका नाम मोक्ष है। ऐसा मोक्ष कर्मोंके क्षय से ही उत्पन्न होता है। द्रव्यकर्मके क्षयसे वह मोक्ष प्राप्त होता है। और, कर्मोंका क्षय होता है सम्यग्ज्ञानसे।

सद्ज्ञान ही मुक्तिका कारण—परकी ओर लगाव होना ही कर्मोंके पन आना है। विशेष उन्हें बन्धन होता है, और पर जैसा है, जितना है, जिस-रूप है उसरूप परको माना जाय और अपने स्वरूपमें माना जाय और इस शुद्ध मान्यताके कारण जो परसे उपेक्षा हो जाती है, उदासीनता होती है और अपने आपका ही आलम्बन रहता है, उस प्रक्रियासे कर्मोंका क्षय होता है। यह कर्मोंका क्षय सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे होता है। सम्यक् मायने सही ज्ञान, सही जनकारी।

मुक्ति ध्यानके द्वारा साध्य है। देखिये ज्ञानसे ध्यानकी सिद्धि है और ध्यानसे ज्ञानकी सिद्धि है। प्रथम तो ज्ञानसे ध्यानमें सिद्धिका काम बना। कुछ हम जानते होंगे तब तो ध्यानमें लग सकते हैं।

ध्यानकी ज्ञानविकासमें प्रधानता—लेकिन फिर ध्यानके द्वारा ही ज्ञानके उत्कृष्ट विकासकी सिद्धि होती है। तो ऐसा विकास शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप परिणमन यह ध्यान द्वारा साध्य है। अर्थात ध्यानसे ज्ञानकी एकाग्रता होती है और उस ही में सर्व कल्याण है। इस कारण यह अपना निर्णय रखिये कि ध्यान ही आत्माका हित है। कुछ अपने आपके स्वरूपकी ओर जानने लगें, उसका ध्यान करते रहें तो हमारा उसमे हित है। वैसे ही हमारा

क्लेश दूर हो सकता है। यों ध्यानके प्रकरणमें मोक्षपुरुषार्थकी बात कही जा रही थी। उस मोक्षके लिए हमारा क्या ध्यान होना चाहिए सब कुछ एक युक्तिपूर्वक बताना यह सब ध्यानसे सिद्धि हो सकती है। इस कारण इस प्रकरणमें ध्यानकी ही साधनाका उपाय बतावेंगे। ध्यानके क्या अग हैं, ध्यानकी क्या विधि है, ध्यानमें आत्माकी क्या स्थिति होती है, यह सब वर्णन किया जायगा जिससे ध्याता ध्यान करते जायें और उन चिन्हों को निरखकर यह समझ जायें कि हम सही मार्गसे अपने ध्यानमें बढे चले जा रहे हैं। इनके लिए आचार्यदेव ध्यानसे युक्तिपूर्वक वर्णन करेंगे।

अपास्य कल्पनाजाल मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभि ।
प्रशमैकपर नित्य ध्यानमेवावलम्बितम् ॥२४८॥

कषायोंके विजेता मुनिके ही ध्यानकी योग्यता—मुक्तिकी इच्छा करने वाले पुरुषोंने मुनिराजने समस्त कल्पनाजालोंको त्यागकर एक ध्यानका ही आलम्बन लिया है। जैसे गृहस्थोंकी चर्याके सम्बन्धमें कोई पूछे तो वहा बहुत विशुद्ध चर्या करेंगे। आजीविकाके प्रसगमें और धर्मसाधनाके प्रसग में और व्यवस्थाके प्रसंगमें भिन्न भिन्न प्रकारकी चर्या मिलेगी, किन्तु जब पूछा जाय कि जो मुमुक्षु मुनिराज हैं उनकी खास चर्या क्या है तो उत्तर केवल एक मिलेगा, विशुद्ध ध्यान। उन मुनिराजने चित्तकी स्थिरता करने वाले ध्यान और अपने आत्माके स्वरूपका अवलम्बन करने वाला ध्यान किया है, यही उनकी चर्या थी, जो मुनिराज एक कषायोंकी मदताके लिए अहर्निश तत्पर रहते हैं उससे ही ध्यान बनना सम्भव है।

ध्यानकी व्यापकता—लोकमें प्रत्येक जीव केवल ध्यान बनाये रहते हैं। संसारी जीव कोई भी ऐसा नहीं है जो ध्यानसे खाली हो। वैसे साधारणतया जिनके मन भी नहीं है, एकइन्द्रिय है उनके भी ध्यान लगा है। आर्तध्यान बताया है। मन नहीं है फिर भी आर्तसज्ञा उनमें चलती रहती है। और ध्यानकी विशेषता और ध्यानका व्यवहार तो संज्ञी जीवोंके ही है। जब तक यह मन स्थिर नहीं रहता तब तक यह जीव विभिन्न उपयोग बनाता और कर्मबन्ध करता है।

आशय की विशुद्धिको चित्तकी स्थिरतामें मुख्यता – चित्तका स्थिर होना वास्तवमें तब ही सम्भव है जब आशय विशुद्ध हो। जिस ध्यानमें परपदार्थोंका आलम्बन लिया है वह ध्यान स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि जिस परका ध्यान किया वह पर मिटेगा। प्रथम तो यह ध्यानपर्याय तो मिटने वाली चीज है और फिर ध्यानका विषयभूत जो परपदार्थ हैं, जो परिणमन चिन्तन किया है वह भी मिटने वाला है साथ ही परपदार्थ भिन्न हैं,

जब रहें रहें, न रहें न रहें। तो ऐसी स्थितिमें चित्त कैसे एकाग्र रह सकता है। चित्तकी एकाग्रता वहां ही सम्भव है जहां मन, चित्त अथवा उपयोग केवल स्वका विषय किया है। जहा आत्माका ही ध्यान रखता हो। तो इतना निश्चित हुआ ना कि जिसका ध्यान किया जा रहा है वह स्वरूप का ध्यान किया जा रहा है वह स्वरूप अविनाशी है। तो विषयकी ओरसे तो विश्वास है कि हमारा ध्यान भंग नहीं हो सकता। अब ध्यान भंग होता है, चित्त स्थिर होता है तो वह हमारी कमजोरीसे हमारी ओरसे होता है। परपदार्थोंके ध्यानसे चित्तकी स्थिरता न होनेसे एक तो स्वयं कमजोरी है, स्वयं इच्छावान है और फिर जिन पदार्थोंका ध्यान किया जा रहा है वे पदार्थ पर हैं, विनाशीक हैं। लेकिन आत्माके ध्यानमें परकी ओरसे होने वाली विडम्बना न रहेगी। अब रहा केवल अपने आपकी ओरका भाव। खुदमें कोई परिणमन चल रहा है तो विषयभूत आत्मतत्त्व स्वयं होता हुआ भी और अविनाशी होता हुआ भी वह स्थिर नहीं रह सकता। इससे ध्यानकी एकाग्रताके लिए आत्माका ध्यान ही एक विशेष सफल हो सकता है।

तत्त्वज्ञानके प्रसादसे ध्यानकी सिद्धि--अब रही अपनी ओरकी कमी। तो तत्त्वज्ञानके प्रसादसे हमारा ध्यान स्थिर हो सकता है। तो जो मुमुक्षु साधुजन हैं उनकी केवल एक ही यह चर्या है रात दिवस। यद्यपि शारीरिक धर्मके कारण उन्हें समितियोंका भी पालन करना पड़ा है और उसमें अनेक प्रवृत्तियां भी करनी पड़ती हैं, फिर भी उनका आन्तरिक आचरण भीतरी चर्याकी बात पूछो तो एक ही उत्तर आयगा कि उन्होंने ध्यानका आलम्बन लिया है। और, ध्यानके आलम्बनकी ही मुनिराजकी दिनचर्या है, और जब कभी भी वह व्यवहारचारित्रमें लगते हैं, स्वाध्याय, उपदेश, शिक्षा दीक्षा आदिकमें लगते हैं वहां भी प्रयोजन मूल एक ही है, चित्त एकाग्र रहे, ध्यान विशुद्ध रहे। उस विशुद्ध ध्यानकी प्राप्तिके लिए ही समस्त उद्यम किए जाते हैं, कराये जाते हैं। तो जिन्हें अपना ध्यान विशुद्ध बनानेकी भावना जगी है जो कि एक मुक्तिका कारण है तो उनका यह कर्तव्य है कि ऐसा भेद-विज्ञान निरन्तर बनाये रहें जिसके प्रसादसे कल्पनाजाल न उठ सकें। जहा कल्पनाओंका जाल समाप्त होगा वहा ही ध्यान सिद्ध होगा।

मोहं त्यज भज स्वास्थ्यं मुञ्च सङ्गान् स्थिरीभव।
यतस्ते ध्यानसामग्री सविकल्पा निगद्यते ॥२५६॥

भेदविज्ञान ही मोहके नाशका उपाय—हे आत्मन् ! तुझे यदि ध्यानमें सफलता प्राप्त करनेकी इच्छा हुई हो तो पहिले अपने आपकी ठीक तैयारी

बना, क्योंकि विधिपूर्वक जो भी कार्य किया जाता है उस कार्यमें सफलता मिलती है। तो अपनी तैयारी बनाने के लिए तुझे क्या करना चाहिए? प्रथम तो मोहको छोड़ो। श्रोताकी ओरसे एक जिज्ञासा हो सकती है कि एकदम सारी कठिन बात कह दें वही तो कठिन है और उसीके लिए हम सुनना चाहते हैं। तो इतनी कठिन चीज सबसे पहिले बता दी, मोह छोड़ो, तो हम तुम्हें ध्यानके विषयमें कुछ विवरणमें कुछ विवरण सुनायें। वक्ताकी ओरसे तो यह बात ठीक लग रही है। जब तक चित्तसे मोह न हटेगा तब तक ध्यानके सम्बधमें कुछ भी कहना, बताना, सुनना सब बेकार रहेगा। क्योंकि चित्तमें तो बसा हुआ है मोह। ध्यानकी बात कौन सुने? लेकिन ध्यान रखना चाहिए कि मोहको छोड़ देना कठिन बात नहीं है। सिर्फ एक दृष्टि नहीं, अथवा सत्सग नहीं मिला, यदि उस प्रकारकी वृत्ति बनना प्रारम्भ हो तो विदित हो जायगा कि मोहका परित्याग करना बहुत सुगम काम है। मोहके छोड़नेमें कोई परिश्रम नहीं करना है किन्तु पदार्थ कितना है, इतनाभर जानना है, पदार्थ कितना है इस जाननेमें ही वे सब बातें आ जाती हैं जिससे मोह छूट जाता है। जिन परिवारजनोंसे, मित्र-जनोंसे कुछ प्रीति मोह उत्पन्न होता है उनके सम्बधमें इतनी जानकारी रखना ही चाहिए कि यह आत्मा इतना है अर्थात् इसका द्रव्य, इसका क्षेत्र, इसका परिणमन, इसका गुण इसमें ही है, इससे बाहर नहीं है, यह आत्मा अपने ज्ञान आनन्द दर्शन शक्ति आदिक गुणोंसे युक्त है। इस आत्मामें उन ही अमूर्तगुणोंका निरन्तर परिणमन चलता है। इसमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं है।

वस्तुस्वरूप निरखनेकी कलामे मोहका परिहार—सबके मायने ही यह हैं कि परिपूर्ण हू और अपने आप हू। जब सभी पदार्थ परिपूर्ण हैं तो किसीका किसीमें प्रवेशका कोई सवाल ही नहीं रहा। तो ये सब पदार्थ जिनसे व्यवहार चल रहा है परिपूर्ण हैं, ऐसी दृष्टि ने बस उसीमें मोह का परित्याग हो गया। यह बात करके जानी जा सकती है। कोई-सा भी काम हो जब उस ओर लग जाते हैं करते हैं तो वह काम सुगम हो जाता है और सिद्ध हो जाता है। जिसके ऐसी दृष्टि बन रही हो कि पदार्थोंको निरखकर सीधा यों ही समझते रहें कि ये पदार्थ इतने हैं, इसके ये प्रदेश हैं, इनमे ये रहते हैं, इनमें ही इनका परिणमन है। इस तरहसे पदार्थोंके निरखते रहने की कला उत्पन्न हो जाय वहाँ मोहका फिर क्या काम है? पदार्थका स्वरूप निरखनेकी कला जब तक नहीं जगती है तब तक मोहका परित्याग कठिन है, और मोह जब तक न छूटे तब तक ध्यानका विवरण

सुनो स्वभावकी बात, एकाग्रताकी बात धर्मकी बात सुनो, सुगमतासे तो सफल हो नहीं सकते। सफलता तब होगी जब मोहका परित्याग करके सुनें। तो हे आत्मन्! पहिली बात तो यह समझ कि तू संसारके मोहको छोड़, सच्ची बातकी जानकारी बनाये रह, इससे बढ़कर और कोई विभूति नहीं। जो लोग ऋद्धियों सिद्धियोंकी वाञ्छा रखते हैं और अनेक प्रकारसे सिद्ध करके अथवा छल करके कोई चमत्कार दिखाते हैं उनसे तो आत्मा का क्या हित है। सबसे बड़ी सिद्धि तो वह है जिसका फल अनाकुलता हो। जीवका मूल प्रयोजन अनाकुलता है। उस अनाकुलताकी सिद्धि जिस समृद्धिसे हो वही ऋद्धि सिद्धि समृद्धि है। यह बात पदार्थकी यथार्थ जानकारी बनाये रहनेसे प्राप्त होती है। दुनिया तुम्हें जाने न जानें, माने न माने इससे तुममें क्या अन्तर होता है, किन्तु अपने आपमें यदि बहिर्मुख जानकारी चलती हो तो उससे संसारभ्रमणका फल मिलता है और न अन्तर्मुखी वृत्ति चलती है तो बन्धनके छोड़नेका वहाँ आनन्द मिलता है। मोहका त्याग करना कठिन बात नहीं है, अतिसुगम बात है। पर इस ओर दृष्टि हो, चित्तमें भाव हो तो यह बात सुगम है। इस लोकमें यथार्थ जानकारी बनाये रहनेके समान कोई सिद्धि ऋद्धि नहीं है। एक राज्य पा लिया, आकुलता तो नहीं मिटी। कौनसी बड़ी बात मिल गयी? करोड़ोंका धन पा लिया तो उससे समता शान्ति तो नहीं मिली। कौनसी विभूति पायी। सभी ओरकी बातोंमें घटाते जाइये, जिससे अनाकुलता मिले उससे बढ़कर विभूति और कुछ नहीं है। वह विभूति मिलती है मोह रागद्वेषके दूर होने से और, मोह रागद्वेष दूर होना तब सम्भव है जब पदार्थकी यथार्थ जानकारी बनी रहे।

ध्यानसिद्धिके अर्थ ज्ञानजागृतिके परिग्रहसंगत्यागकी आवश्यकता—लोकमें कोई लोग तो ऐसे होते हैं कि ५ मिनट बाद सही बात दिमागमें आती है, किसीके एक मिनट बाद ही सही बात दिमागमें बैठ जाती है, किसीके १ घंटा बाद, किसीके २ दिन बाद सही बात दिमागमें बैठ पाती है, पर ज्ञानी पुरुष तो ऐसे हैं कि जिस समय कर रहे हैं उसी समय सही बात दिमागमें बैठ जायगी। तो सही बातकी जानकारी होनेसे पूर्वकर्मविपाकके उदयसे अपराध भी कुछ हो रहे हों तब भी वह अन्तःअनाकुलताका साधन है, जानकारीका तो इतना विशुद्ध प्रताप है। सही जानकारी बना और मोह को छोड़। मोह करना बड़ा आसान लगता है। घरमें ही तो रह रहे हैं। चाहे जितना मोह करें, कोई रोकने टोकने वाला नहीं, कोई अड़चन नहीं, बड़ा सुगम लग रहा है मोह करना. लेकिन इसमें विडम्बनाएँ कितनी भरी

हैं, उसका फल है यह सारा संसार। जन्ममरण होना, वियोग होना, कहींके कहीं पैदा हो जाना, ये सारी विडम्बनाएँ मोह करनेसे हो रही हैं। मोह करनेके समान और कोई विपदा है क्या? अपना है कुछ नहीं फिर भी उसी में लगे जा रहे हैं। तो हे आत्मन्! तुझे अनाकुलताकी यदि चाह है तो देख—अनाकुलता मिलेगी आत्मध्यानके प्रतापसे और आत्मध्यान बनेगा यथार्थ जानकारीसे, पर उस आत्मध्यानको बनानेके लिए उसकी बात हृदय में धारण करनेके लिए पहिले तैयारी यह होना चाहिए कि तू मोहको छोड़ दे। और, दूसरी बात सुन, परिग्रहका परित्याग कर। यथार्थ जानकारी होनेके पश्चात् भी अर्थात् मोह छूटनेके पश्चात् भी सगका परिग्रहका जब तक सम्बंध है तद्विषयक विकल्पका होना अर्थात् रागविकल्पका बनना ये सब भी ध्यानमें बाधक हैं। जैसे जिसकी फोटो उतारी जाती है तो फोटो उतारने वाला फोटो उतारने से पहिले तैयारीमें कहता है ना, जरा ऊपर सिर करो, थोड़ा बाँये मुड़ो, सामने देखो ऐसे ही आचार्यदेव ध्यानकी सिद्धि करानेका यत्न कर रहे हैं। तो पहिले यह तैयारी करा रहे हैं कि सावधान हो, तुझे ध्यान चाहिए ना, तो पहिले मोहको छोड़। हाँ साहब छोड़ दिया। इतनी जल्दी छोड़ दिया। क्या है, यथार्थ जानकारी हुई मोह छूट गया। तो अब सगपरिग्रहको छोड़। ये भी तेरे राग और विकल्पके कारण बनते हैं। इस तरहसे तू अपनेको स्थिर कर, फिर चित्तको स्थिर करके सुन। तेरे लिए अनेक भावोंसहित ध्यानकी सामग्री बतायी जा रही है।

> उत्तितीर्षुर्महापङ्काज्जन्मसञ्ज्ञाद्दुरुत्तरात्।
> यदि किं न तदा धत्से धैर्यं ध्याने निरन्तरम् ॥२६०॥

संसारसंकटोंसे मुक्ति पानेके लिए आत्मध्यानमें धीरता धारण करनेका उपदेश—सावधानी बतानेके लिए फिर भी कुछ उपदेश दे रहे हैं। हे आत्मन्! यदि तू कष्टसे पार करने योग्य इस संसाररूपी कीचड़से निकलनेकी चाह करता है तो तू ध्यानमें निरन्तर धीरता क्यों नहीं धारण करता? कोई पुरुष किसी कीचड़में फँस गया हो जो बड़ा कठिन है तो घबड़ाने रोनेसे तो काम न चलेगा। तू धैर्य रख, निकलेगा, धीरे धीरे विधिपूर्वक प्रयोगसे निकल आयगा। ऐसे ही तू संसाररूपी कर्दममें फँस गया है जो बड़ी कठिनतासे पार किया जा सकता है। तो तू धैर्य रख और देख इस संसारसागरसे पार होनेकी विधि आत्मध्यान है। उस आत्मक्रियाकी प्रक्रियामें तू धैर्यपूर्वक गम्भीरतासे अपना पुरुषार्थ कर, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है कि इस संसाररूपी कीचड़से यह आत्मा निकल सके। जब अन्तर्दृष्टि

करके भीतर निहारो तब विदित होगा कि अहो ! इसका तो बाहरमें कुछ भी नहीं है। यह तो यह ही है। ये जो चौकी, दरी, चटाई, तखत, पुस्तक आदि हैं ये तो कभी लड़ते झगड़ते नहीं दिखते। ये भी तो सत्-पदार्थ हैं, अस्तित्व इनका भी है, ये क्यों नहीं एक दूसरेपर हामी बनते हैं मालिक बननेके लिए। तो जीव भी तो एक सत् है। वह भी तो पदार्थ है, यह भी किसीका अधिकारी नहीं। पर चूँकि यह ज्ञानवान है, जानकारी मिली है इस कारण अपनी इस सुविधाका दुरुपयोग कर रहा है।

दृष्टान्तपूर्वक मोहमें ज्ञानकलाके दुरुपयोगका कथन करते हुए दुरुपयोग न करनेकी प्रेरणाभरा उपदेश जैसे गरीब लोग होते हैं वे भी घरमें रहते हैं और थोड़ा-थोड़ा वे फालतू बेकारकी बातोंमें रहते हैं लेकिन उनमें साहित्यिक कोई कला नहीं है, बुद्धिका विकास नहीं है तो उनकी एक साधारण ढंगसे कि एक धर्मविरुद्ध बात चलती रहती है। विषयसेवन समझ लीजिए। पञ्चेन्द्रियके विषयोंका सेवन देहातीजन करते हैं और अमीर लोग धनिक लोग जो थोड़ा पढ़ लिख गये हों, कुछ विद्या भी आ गई है, कुछ साहित्यिक कला आ गयी है, कुछ अलङ्कार जान लिया है, कुछ छंद शास्त्र जान लिया है, कुछ बोलनेकी भी एक शैली आ गयी है। अब यह पढ़ा लिखा चतुर इन साहित्यिक कलावोंको इन प्रतिभावोंको विषयसेवनमें निरन्तर लगाये रहता है। तो कम पढ़े लिखे लोग भी इन्द्रिय साधन करते हैं उनकी अपेक्षा यह पढ़ा लिखा अधिक भोग उपभोगमें लगता है। तो ज्ञान मिला ना कुछ, इसलिए उस पढ़े लिखेका ढंग उन देहातियोंसे भी बढ़कर गजबका हो जाता है। तो ये अचेतन पदार्थ हैं, इनका भी कोई दूसरा पदार्थ कुछ नहीं है। मगर इनमें जानकारी नहीं है तो ये सीधे सादे पड़े रहते हैं, परिणमन करते रहते हैं किन्तु इन संसारी प्राणियोंमें एक जानकारी लगी है, एक असाधारण गुण है, सो ये मोह करके उस जानकारीका दुरुपयोग कर रहे हैं। अमुक मेरा है, अमुकमें मेरा नाम है, ये अचेतन इस दृष्टिमें हमसे ज्यादा अच्छे हैं, ये बेचारे नाम के लिए कूदते फांदते तो नहीं हैं। अपना सम्मान अपमान तो नहीं महसूस करते हैं। स्वरूपदृष्टिसे देखो तो इस आत्माको भी कूदने फांदनेका काम न था और सम्मान, अपमान नाम, यश, मोह, इनका भी काम न था, लेकिन जानकारीकी कला पायी है सो इस कलाका दुरुपयोग यह संसारी प्राणी कर रहा है। तो देख आत्मन्! तू निराकुलताके साधनभूत ध्यानकी सिद्धिमें सफल होना चाहता है तो तू मोह छोड़, संग छोड़ और ध्यानकी साधनाके

लिए तू धीरतापूर्वक उद्यम कर। इस प्रकार ध्यानके प्रकरणमें ध्यानकी विधियाँ बतानेसे पहिले एक सावधानी करायी गई है।

चित्ते तव विवेकश्रीर्यद्यशङ्का स्थिरीभवेत्।
कीर्त्यते ते तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥२६१॥

विवेकीजनोंके लिये हृदयशुद्धिकारक ध्यानलक्षणका कीर्तन—हे भव्य पुरुष! यदि तेरे मनमें सन्देहरहित विवेकरूपी लक्ष्मी स्थिर हुई है तो मनकी शुद्धता को देने वाले ध्यानका हम लक्षण कहते हैं। ध्यानकी सिद्धिके लिए मनको पवित्र बनाना आवश्यक है, इसलिए कई श्लोकोंमें पहिले भी ध्यानकी योग्यता उत्पन्न करनेके लिए सावधानी की है और अब यह कह रहे हैं कि यदि निःसन्देह विवेक तुम्हारे चित्तमें स्थिर हुआ हो, निजको निजपरको पर जाननेका प्रकाश आया हो, जो भी ज्ञानमें आये उस तत्त्वका स्वरूप अपनी झलकमें ले सकता हो तो तेरे लिए कुछ ध्यानलक्षण कहते हैं। जब चित्त सन्देहरहित और स्थिर होता है तभी तो कहे हुए वचनोंका ग्रहण होता है, अथवा उसकी प्रतीति होती है, इस कारण मनको पवित्र बनाना प्रथम आवश्यक है। परसे छूटकर अपने आपमें मग्न हो सकनेका ध्यान बनानेके लिए चित्त काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह इनसे रहित हो और कमसे कम मोहभावसे तो सर्वथा रहित हो अर्थात् सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो और कषायें मन्द हों तो ध्यानकी बात अपने हृदयमें धारण करनेका पात्र होता है।

इयं मोहमहानिद्रा जगत्त्रयविसर्पिणी।
यदि क्षीणा तदा क्षिप्रं पिब ध्यानसुधारसम् ॥२६२॥

अज्ञान महानिद्रा—यह अज्ञानरूपी महानिद्रा जो तीन लोकमें फैलने वाली है यदि तेरी नष्ट हो गयी हो तो तू ध्यानरूपी अमृत रसका पान कर। अज्ञानको महानिद्रा बताया है। जब जो कुछ जानकारी चल रही है, अज्ञान में विकल्प चल रहे हैं वह सब है स्वप्न जैसी दशाकी नींद, और स्वप्न आता है तो अज्ञानकी ऐसी नींद ली जा रही है। और जो कुछ विकल्प उठ रहे हैं, जो कुछ माना जा रहा है वह स्वप्न लिया जा रहा है। आँखकी नींद कुछ समयके लिए है और अज्ञानकी नींद बहुत लम्बे काल तकके लिए है। जैसे आँखोंकी नींदमें स्वप्नमें देखी हुई बात केवल स्वप्नके समय सही लगती है, पर निद्रा टूट जाय तो वह बात गलत मालूम होती है इसी प्रकार इस अज्ञानकी नींदमें जो कुछ माना जा रहा है और बड़ा श्रम किया जा रहा है ये सब बातें सही और चतुराई भरी लगती हैं, किन्तु अज्ञानकी निद्रा भग हो, स्वपरका यथार्थ परिज्ञान हो तो यह सब असत्य मालूम होने

लगता है। तो जैसे नींद टूट जानेपर फिर सही बोध होता है—ओह जो मैं देख रहा था वह सब झूठ था, कुछ भी न था, केवल एक स्वप्न था। सो कभी तो स्वप्न लेने वाला पुरुष जगनेपर खुश होता है और कभी विषाद मानता है। यह आँखोंकी नींदकी बात कह रहे हैं। कोई दुःखद स्वप्न देख रहा है, उसमें वह पीड़ित हो रहा है—मानो ऐसा कोई स्वप्न आ जाय कि मैं तालाबमें गिर गया, और मुझे मगर खानेके लिए दौड़ रहा है, शरीर का कुछ हिस्सा दबा लिया है तो ऐसे स्वप्नमें बड़ा बेचैन होगा, और उसे यह स्वप्न आ जाय कि मेरे खूब वैभव है, बड़े सुख साधन मिल गए हैं तो वह स्वप्नमें बड़ा खुश होता है। तो ऐसी स्थितिमें आँखोंकी नींद खुल जाय और यदि वह अज्ञानी है तो वह दुःखी होगा, अब कुछ भी नहीं रहा, और आंखें मींचकर वह कोशिश करेगा कि फिर वह रंग ढंग मिल जाय। तो यहाँ भी हम आप अज्ञानकी नींदमें खोटे स्वप्न देख रहे हैं, ज्ञाननेत्र खुलनेपर अर्थात् अज्ञाननिद्रा भग होनेपर सही पता पड़ता है—ओह वह सब झूठा था, व्यर्थका झमेला था, वह तो अपने सत्यस्वरूपक दर्शन करके आनन्द पाता है।

अज्ञान महानिद्रा भग होनेपर ही आत्मस्वरूपके सुधकी सभवता—देखो भैया! कषायसहित होना आत्माका स्वरूप नहीं है और कषायरहित होना भी आत्माका स्वरूप नहीं है, कषायसहित थे, अब कषाये नहीं रहीं, एक इस विशेषता को बताया, पर आत्माके स्वरूपकी छुआ कहाँ? आत्माका स्वरूप निषेधरूप नहीं है, वह है विधिरूप। आत्मामें क्या है उसे बतावें तो स्वरूप आये, क्या नहीं है ऐसा बतानेसे स्वका रूप नहीं आया, वह एक विशेषता बनायी गयी है, तो आत्माका स्वरूप न कषायसहित हुआ और न कषायरहित हुआ। फिर क्या हुआ? तो जैसे प्रसिद्ध बात है, बताया गया है, कह दिया जाय, आत्माका स्वरूप ज्ञान है। अभी थोड़ी कसर रह गयी। यहाँ आत्मा कोई अलग पदार्थ है और उसका स्वरूप उसका ज्ञान उसका गुण उसमें है, ऐसा भेदीकरण हो गया, आगे चलो—आत्माका स्वरूप ज्ञायकता है। यद्यपि ज्ञान कहनेमें और ज्ञायकता कहनेमें कोई अन्य बात नहीं कही गई, लेकिन ज्ञायकता कहनेमें ज्ञानको बतानेकी अपेक्षा कम भेद बना है। जैसे अहिंसा और अहिंसकता अहिंसा करने वालेका भाव उसका नाम है अहिंसकता। और अहिंसा क्या हुई? वही अहिंसा हुई। फिर भी एक धर्मका नाम लेकर फिर भेद बतानेमें कुछ भेद कम हुआ करता है लेकिन भेद अब भी है। तो फिर यों कह दिया जाय कि आत्मा ज्ञायक है, वह न कषायसहित है, न कषायरहित है, किन्तु ज्ञायक है। तो ज्ञायक कहने

पर शब्द व्युत्पत्तिके अनुसार जो बात ध्वनित हुई है वह भी भेद डालने वाली हुई। जानने वाला। अरे जो जाननका स्वरूप है वही तो है, किसी भी शब्दसे बोलें वह किसी एक धर्मको बतायेगा। तब यह कहना पड़ेगा कि यह आत्मा तो वही है जो है। जो ज्ञात हो वही यह आत्मा है। यह मैं आत्मा समस्त परपदार्थोंसे न्यारा केवल निज ज्ञानन्दस्वरूप हू तब इसे खबर हुई अज्ञाननिद्रा टूटनेपर कि मैं तो केवल ज्ञान और आनन्दस्वरूप हू तब उसके सारे दु ख दूर हो गए। मैं व्यर्थ ही विकल्प करके आकुलित होता था।

अज्ञाननिद्राका विस्तार—यह अज्ञानरूपी महानिद्रा तीन लोकमें फैली हुई है। पशु पक्षी कीड़ा, एकेन्द्रिय, देव, नारकी मनुष्य सब जगतमें इस अज्ञाननिद्राका प्रसार है। वह यदि क्षीण हो गई हो तो तू ध्यानरूपी अमृत-रसका पान कर। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं समा सकतीं इसी प्रकार एक उपयोगमें अज्ञाननिद्रा और अमृतपानकी स्थिति ये दो बातें नहीं समा सकती हैं। यह जगत एक जुवा खेलनेका फड़ समझ लीजिए। जैसे जुवा खेलनेपर कोई जीत जाय तो भी शान्ति नहीं पा सकता, जीत गया और दाव लगाने पर बैठेगा। यदि जीतकर वह चलने लगे तो समीप बैठे हुए लोग उसे ऐसी बातें करके शर्मिन्दा कर देंगे कि उसे फिर बैठना पड़ेगा। तो जीतनेपर भी छुटकारा नहीं मिलता और हार गया तो प्रथम तो वह हारे के बाद चित्त बनाता है कि शायद अब जीत जाऊँ और हारता ही जाय। थोड़ा विवेक जगे, चलने लगे तो पास बैठे हुए लोग न उठने देंगे। वे कहेंगे बस इतनी ही दम थी, कुछ भी बातें कहकर उसे फिर उसीमें लगाने का यत्न करते हैं। ऐसे ही यह ससार मायाजाल भी एक जुवाका मैदान है। पुण्यका फल पाकर, सम्पदा पाकर वैभव लोग अपनी जीत समझते हैं और गर्वसे छाती फुलाकर चलते हैं, पर शान्ति नहीं मिल पाती। वह और तृष्णामें लगता है। यदि पापका फल मिला, विपदा मिली तो इसमें अपनी हार मानता है। उस हारमें भी यह दु खी होता है। और हारकर भी यह मोह छोड़ना चाहे तो नहीं छोड़ पाता। ऐसा व्यवहार होता है लोकमें। तो यह जगत बड़ी मुश्किलसे तिरने योग्य है, क्योंकि अज्ञानकी निद्रा बसी हुई है। थोड़ा अदाज इसीसे लगा लो कि कुछ स्वाध्याय करते हैं, भक्ति करते हैं, धर्मपालन करते हैं, बारबार यह शिक्षा मिलती है कि मोह छोड़ो, सब पररूप हैं, तुम सबसे अलग हो, स्वतन्त्र हो, तृष्णा न करो, किसीमें अपना सम्मान अपमान न मानो। किसीमें अपना नाम यश रखनेकी धुनि मत

रखो। अनेक बार ऐसा सुना है फिर भी जो व्यवहार बनता है, जो कमजोरी आती है उसे खुद अंदाज कर लीजिए। चाहते हैं यह छूट जाय, पर छूटता नहीं है, अथवा ऐसी स्थिति आ जाती है कि यह छोड़ना नहीं चाहता है। जो जिस प्रकार होनेको है होता है, वही इसकी काललब्धि है। तो सोई हुई अवस्थामें तू इस ध्यान अमृतको पी नहीं सकता। तू जरा अज्ञान नींदको तोड़, सबसे निराला रहनेका यत्न कर।

स्वरूपके रुचिया सतकी अनुभूतिकलाकी सुगमता—विविक्त अन्तस्तत्त्वकी ओर जानेकी विधि सिखायेसे नहीं आती। जिसे अपने आपमें झुकनेका आनन्द मिल गया उसे कोई नहीं रोक सकता। उसे शिवपथसे कोई नहीं डिगा सकता है। और, जब तक अन्त आनन्द नहीं प्राप्त हुआ तब तक यह विषयोंमें सुख मानता है, लोगोंमें धर्मकी बात कहे तो इसमें बड़प्पन होता है, लोकमें हम कुछ अच्छी तरहसे माने जा सकते हैं इन भावोंसे कुछ धार्मिक वृत्ति की जाती है। जब अन्त आनन्द नहीं मिलता तो ये सब विषय ही बन जाते हैं, कोई इन्द्रियका विषय है, कोई मनका विषय है, कोई किसी प्रकारका है। प्रयत्न यह हो कि हम कोई विविक्त स्थान पाकर एकान्त निर्मल किसी स्थानमें सुस्थिर बैठकर अपने आपकी दयाके सम्बंध मे कुछ चिन्तन करके, मेरा कैसे हित हो? हमें अपनी हितप्राप्तिके लिए, सदाकाल संकटोंसे छूटनेके लिए यदि सब कुछ भी छोड़ना पड़े, मोह रागद्वेष त्यागना पडे उस सबके लिए हम तैयार हैं, किन्तु वह स्थिति प्राप्त हो जाय जो निःसंकट है। ऐसी तीव्र उत्सुकता जगी हो और वह अपने आपमें ध्यान लगानेका यत्न करे तो उस आनन्दके अनुभवके बाद किसीमें सामर्थ्य नहीं कि उसे रोक सके। कुछ थोड़ी बहुत जानकारीके बाद चित्तमें यह बात बनी रहती है कि अभी हमारी परिस्थिति ऐसी नहीं कि घर छोड़ दें। अभी छोटे बच्चे हैं, और यह तो कोई सभ्यता नहीं है कि छोटे बच्चोंको छोड़कर वैरागी बन जायें। इसमें लोग क्या कहेंगे। हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम छोटे बच्चोंको असहाय छोड़कर चले जायें। इसमें लोग हमें क्या कहेंगे। लेकिन वस्तुतः स्थिति यह है कि यदि अन्त आनन्दका अनुभव हुआ है और उस कैवल्यस्थितिको पानेकी दृढ़ता हुई है तो उसे कोई रोक नहीं सकता, शिवपथ पर जानेके लिए घरमें कोई बाँध नहीं सकता। जब सुकौशल विरक्त हुए तो उनकी स्त्रीके गर्भमें ही बच्चा था। लोगोंने समझाया पर उनके चित्तमें बात तो न आयी। खैर अन्तमें इतना मान लिया कि जो गर्भमें हो उसे राजतिलक किया। जिसे अन्तरङ्गमे अनुभव हो जाता है उसे तो कैवल्य ही सुहाता है। बाकी तो सब दंदफंद

मालूम होते हैं। इसका ज्ञानप्रकाश स्पष्ट सामने है कि मैं किसीका कुछ नहीं करता, सब अपने-अपने भाग्यसे सब कुछ पाते हैं। इतना स्पष्ट निर्णय होना चाहिए कि हम अपनी कमजोरीसे घरमें रह रहे हैं। तो देख यदि अज्ञानरूप मोह विडम्बना क्षीण हो गयी हो तो तू ध्यानरूपी अमृत-रसका पान कर।

बाह्यान्तर्भूतनि शेषसङ्गमूर्च्छा क्षयं गता।
यदि तत्त्वोपदेशेन ध्याने चेतस्तदार्पय ॥२६३॥

ज्ञानको विकार साधन बनानेपर विषाद—यदि तत्त्वोपदेश सुनकर बाह्यमें और अन्तरङ्गमें मूर्छा नष्ट हो गयी हो तो अपने चित्तको ध्यानमें ही लगा। जब तक ममत्व है तब तक तू ध्यानका पात्र नहीं है। ऐसी स्थिति पानेके लिए कर्तव्य है ज्ञानका वातावरण और सत्सग। इन दो का अद्भुत प्रभाव पड़ता है। मुझे ज्ञान चाहिए, मेरी ज्ञानदृष्टि निरन्तर रहो, मुझे और कुछ लोकमें न चाहिए। अब कभी ज्ञानके ही प्रसगसे यह बात आने लगे मनमें कि किसीने कोई शका किया है तो मैं अनापसनाप धमकाकर उसके गजबका रूपक बना दू। लोग यह न जान सकें कि इनके प्रश्नका समाधान नहीं कर पाया है, यदि ये बातें आने लगें तो इसे यों कहना होगा कि जो ज्ञानभाव सकटोंको नष्ट करनेका साधन था उस ही ज्ञानको सकट जोड़नेका कारण बना डाला। जैसे कह दिया जाय कि पानी आग बुझानेका साधन है लेकिन कोई पानीसे ही आग लगा दे तो यह गजब ही तो है। ऐसी ही बात समझ लेना चाहिए कि ज्ञानभावके द्वारा तो हम संकट मोह कषाये इन सब विपदाओंको नष्ट करनेके लिए यत्न करें, करना चाहिए, योगीश्वर करते हैं और कोई इस ही ज्ञानके द्वारा क्रोध बढ़ाये, घमड बढ़ाये, मायाचार करे, तृष्णा बढ़ाये तो यह कितनी खेदकी बात है। कम पढ़े लिखे देहात के लोग जैसे कि प्रायः लोग दिखते हैं अपेक्षाकृत उन्हें संतोष है, उन्हें लाभ ' धिक नहीं सताता। एक लखपति पुरुष करोड़ोंके वैभवपर दृष्टि डाल सकता है मुझे इतना नहीं मिला, पर देहातके लोग इतनी दृष्टि कहा डाल सकते हैं। वे ज्यादा दौड़ेंगे तो दो जोड़ी बैल हो जायें, इतनी खेती हो जाय ऐसा मकान बन जाय। कुछ अपनी गोष्ठीके लोगोंको देखत हैं वहा तक ही तृष्णा जायगी। तो तृष्णाके बढ़ानेमें देखो यह ज्ञान साधक बन गया। उन बेचारोंको बहुत ज्ञान नहीं है, सो ऊँची तृष्णाकी बात नहीं सोच सकते। मायाचार करनेके लिए भी ज्ञान चाहिए। जो भले लोग हैं, कमजोर हैं वे घमंड करनेमे सफल कैसे हो सकते हैं। जरासी देरमें उनके भय खुल जाता है। तो मोही जीव इस ज्ञान

को मायाचारका साधन बना डालते हैं। घमंडकी बात देखो तो जो छोटे लोग हैं, ज्ञानशून्य हैं, कम ज्ञानी हैं वे कितना तक गर्व बनावेगे। घमंड वे भी करते हैं, पर जो जितना जानकार है वह अपनी ऐसी दृष्टि फैलायेगा कि वह मानमें भी बढ़ चढ़कर हो सकता है, और मोही जीवका ज्ञान भी क्रोधका साधन बनता है। तो जो ज्ञान हमारे कषाय संतापको शान्त करने का कारण है हम कुछ योग्यता पाकर कषायोंकी वृद्धिमें लगें तो यह हमारे हितकी बात नहीं है।

स्वरूपविकासके लिये ज्ञानसम्वर्द्धनकी भावना—ज्ञान बढे ज्ञानस्वरूपकी जानकारी करनेके लिए, और यह मैं अपने आपमें धीरेसे गुप्त तो होऊँ फिर मुझे कोई संकट न रहेगा ऐसी स्थितिका अंदाजा रखकर अपनी ओर ज्ञानको बढ़ायें तो वह ज्ञानमार्ग है, और शान्तिका साधन बन सकता है। ज्ञान पाकर बहुत-बहुत बड़ी विडम्बनाओंके काम कर सकता है यह जीव। पर वह ज्ञान ज्ञान नहीं है। वह सब कुज्ञान है। उस ज्ञानको ही स्वच्छ करने के लिए, स्थिर करनेके लिए ज्ञान जगता है, पर ध्यान करने के लिए कुछ ज्ञान तो चाहिए। फिर ध्यानकी विशुद्धि करके उस ज्ञानका सम्वर्द्धन किया जा सकता है। तो इन सब बातोंके लिए यह आवश्यक है कि तू मोहको भगाकर, अज्ञानकी निद्रा तोड़, बाह्य तथा आभ्यंतर सब प्रकारकी ममताको दूर कर फिर तू अपने चित्तको ध्यानमें लगा। ऐसा कहनेका यह प्रयोजन नहीं है कि तेरा जब तक मोह न मिटे तू उसके छोड़नेकी कोशिश भी न कर। कर कोशिश, पर कभी-कभी जैसे लोकव्यवहारमें एक बातको उत्कृष्ट-रूप देनेके लिए बोला जाता है इसी तरह यहां भी उत्कृष्ट स्वच्छता बतानेके लिए यह कहा जा रहा है कि यदि ममता मिट गयी हो तो तू ध्यानमें हाथ डाल, नहीं तो छोड़े रह, इसके मायने यह नहीं कि डरे ही रहो। कोशिश तो करो मगर एक उत्कृष्टता बनायी गयी है। परिग्रहका ममत्व रहनेसे ध्यानमें चित्त नहीं लग सकता। इस कारण यह बात कही है कि तू ममता को पहिले दूर कर फिर ध्यान लगा। तू ध्यानमें सफलता पायगा। कोई कोई लोग कहते कि ध्यानमें हमारा मन नहीं लगता, तो कैसे मन लगे, पर का तो मोह बसा रक्खा है। सर्वप्रथम भेदविज्ञान उत्पन्न करें, स्वरूपदृष्टि को सम्हालें, यथार्थ जानकारी रक्खें तो इस परिणतिसे हमारा कल्याण होगा।

प्रमादविषयग्राहदन्तयन्त्राद्यदि च्युतः।
त्वं तदा क्लेशसंघातघातकं ध्यानमाश्रय ॥२६४॥

विषयवासनासे जीवको हितपथके लाभका अनवसर—हे भव्य पुरुष !

यदि तुम प्रमाद और इन्द्रियके विषयरूप पिशाचोंसे अथवा जन्तुओंके दांतों से तू छूट गया हो तो तू इस ध्यानका आश्रय करो अर्थात् जब तक प्रमाद और इन्द्रियके विषयोंमें चित्त लग रहा है तब तक ध्यानमें तेरा चित्त लग नहीं सकता। ऐसे विषय और प्रमाद यदि तुझे रुचे तो तू ध्यानकी आशा न कर। ध्यानकी चाह है तो विषयोंसे विरक्ति धारण कर। एक विवेक पूर्वक सोचनेभरकी बात है। विषयोंके सेवनमें किसे क्या लाभ मिला, सो बतावो। ५ इन्द्रिया और छठा मन, ६ प्रकारके विषयोंको यह संसारका प्राणी चक्र लगा रहा है और तड़फ तड़फकर इन्हीं विषयोंमें प्रवृत्ति कर रहा है। कुछ भी तत्त्व निकला हो तो अदाज कर लो किसी भी मामलेमें, जहां बाहरके लोगोंकी ओर दृष्टि दी वहां फिर विवेक काम नहीं देता। तृष्णा बढ़े, हठ बढ़े, इच्छा बढ़े, लेकिन केवल अपने आपपर ही दृष्टि देकर सोच लो—कामसेवनमें कौनसा लाभ पाया। बल्कि मनोबल, वचनबल और कायबल ही अपना गँवाया, यह बात बहुत आयु बीतनेपर तो सहज अनुभूत की जा सकती है और विवेक हो तो तत्काल भी अनुभव किया जा सकता है। बहुत रसीले स्वादिष्ट भोजन किया कितने ही बार, पर आज उसका कुछ स्वाद भी है क्या? एक भी तो स्वाद नहीं रहा। तो उन स्वादों से तूने क्या लाभ पाया? बल्कि उन बातोंके पीछे अनेक आवश्यकताएँ बढ़ाया और रातदिन उनकी पूर्तिके लिए व्यग्र रहे। आज यह अनुभव कर रहे हैं कि बड़ी परेशानी है, हमारा खर्च भी पूरा नहीं चलता। आजकी एक विकट स्थिति है लोगोंकी आर्थिक मामलेमें, इतने पर भी यदि कोई एक अपने आपको देखे तो कोई परेशानी नहीं। दूसरेकी ओर जो देखते हैं इनके कितना ठाठ है, हमें भी तो मिलना चाहिए हमारा परिग्रह इतना बड़ा होना चाहिए इतने मकान हों, इतनी सवारी हों, इतनी अन्य बातें हों, साज शृङ्गार हों, बस उनकी ओर बढते हैं और उनकी पूर्तिके लिए व्यग्र रहते हैं। यदि कोई परमार्थतः विवेकी है तो उसका कर्तव्य यह है कि अपनी सब फालतू जरूरतोंको मिटायें जो जरूरतें बना रखी हैं केवल एक नामके लिए अथवा अपने विशेष आरामके लिए। आरामके लिए भी नहीं, आराम तो सब स्थितियोंमें मिलता है। यह तो कल्पनाकी बात है कि हमारा इतना ठाठबाट न हो तो हमें आराम न मिलेगा। उनको समाप्तकर एक धर्मसाधनाके लिए ज्ञानार्जनके लिए अपना जीवन लगायें और धुन हो तो केवल ज्ञानवृद्धिकी जानकारी करनेकी, तो वह जीवन हितकारी होगा। और, शेष जीवन कैसे बीता है, सो विषयसाधनोंको जिन्होंने भोगा है उनका ख्याल कर।

मोहप्रसगका त्याग करके सतापघातक ध्यानका आश्रय करनेमें कल्याणकी सूचना—इस समय भी देख लो, क्या रहा, कितना स्वाद लिया, जितने तरह के व्यञ्जन सम्भवतः हिन्दुस्तानमें बनते हैं हमारा ख्याल है कि किसी भी देशमें न बनते होंगे। और देशोंके लोग मोटी मोटी १०-५ चीजें जानते होंगे पर यहाँ एक बेसनकी अधिक नहीं तो १०० चीजें भी देखनेको मिल जायेंगी। और, एक ही बेसनके जो सेव बनते हैं वे भी करीब २५ किस्मके होंगे, कोई किसी ढगका, कोई किसी ढगका। इतनी प्रकारके व्यञ्जन शायद किसी देशमें न बनते होंगे। हम तो गए नहीं पर हमारा अन्दाज है ऐसा। यह देशका भोगप्रधान, कर्मप्रधान, तपश्चरण प्रधान। सब प्रधानताएँ तो दूर हो गयीं पर करीब करीब भोग प्रधान रह गया पुरुषार्थ करनेकी बात, कोई नई चीज उपजानेकी बात ये बात बहुत कम रह गयीं। तो आप यह देखो कि इतने रसोंका स्वाद लिया, उनमेसे आज क्या हाथ है? यदि मुँहमें थोड़ा भी स्वाद पड़ा हो तो बतावो। इतना तक भी नहीं है कि उस स्वादके दो चार घूँट भी आज उतर जायें। तो उस स्वादसे लाभ क्या मिला? कभी-कभी इस प्रकारकी धुन बन जाती है कि इत्र हो, फूल भी हों, कैसे-कैसे साज सजाया, एक सुगधके ही लिए जो कि जीवनके लिए भी आवश्यक न था, केवल एक शौक और मनकी कल्पना थी, उनमेंसे आज क्या हाथ है? कितने ही सनीमा देखा होगा, कितने नाटक कितने रूप और चलते फिरते यहाँ वहाँ लोगोंको कितनी प्रकारसे देखा है, पर उन रूपोंके देखनेके बाद क्या आज कुछ इसके हाथ भी है? कोरा अकेला ज्योंका त्यों है। तो इन विषयोंमें चित्त गड़ानेसे लाभ क्या मिला? इसे खूब खोज लीजिए। इन कानोंसे भी बहुत राग रागनियोंकी बात सुना, बहुत-बहुत सगीत गायन सुना, ये भी कुछ ज्यादा खराब नहीं है। मगर राग भरी बातें जिनमें दूसरोंसे प्रेम बढ़े, खुदमें प्रेम आये ऐसी कोशिश करके राग भरी बातें करना, सब कुछ कर चुके होंगे, पर आज कौनसी लाभकी बात है। बचपनसे लेकर अब तक मनकी कल्पनाएँ, जितने मनके विषय बनाया समझ लीजिए, बचपनमें किस प्रकारसे नामकी इच्छा थी, किशोर अवस्था में किस ढगकी इच्छा थी, जवानीमें क्या ढग बनाया, कल्पनाओं की कितनी उड़ानें कीं पर आज क्या हाथ रहा? और, मानो नाम भी फला हो, यश भी कुछ चल रहा हो लेकिन वह काम क्या देगा? अब भी क्या काम दे रहा है? इतने विशाल लोकमें ३४३ घनराजूप्रमाण इस विशाल जगतमें कहाँके मरे कहाँ उत्पन्न हो गए। तो यह कुछ भी लाभकारी बात नहीं है। तो इन विषयोंमें जब तक प्रवृत्ति रहे यह है सबसे बड़ा प्रमाद तब तक

ध्यानमें चित्त नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा ज्ञानार्जन करें कि जिससे विशुद्धि जगे चित्तमें और आत्मध्यानमें उपयोग चले।

इमेऽनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः।
यदि रागादयः क्षीणास्तदा ध्यातुं विचेष्ट्यताम् ॥२६५॥

रागद्वेष क्षीण करके अन्तःध्यान करनेकी प्रेरणा—हे आत्मन्! यदि ये रागद्वेष तेरे क्षीण हो गए हों जो रागद्वेष अनन्त भ्रमोंको उत्पन्न करते हैं ऐसे रागद्वेष तेरे यदि क्षीण हो गए हों तो तुझे ध्यानकी चेष्टा करना चाहिए और रागद्वेष बने हुए हों तो ध्यानकी आशा मत रख। इसमें सफल नहीं हो सकता। इसलिए पहिले इन रागद्वेषोंको क्षीण कर। ये रागद्वेष क्षीण होंगे तो सहज स्वभावरूपमें आत्मतत्त्वके स्वभाव और अवलम्बनसे क्षीण होंगे, क्योंकि बाह्यमें अनात्मतत्त्वमें जहाँ भी जहाँ भी उपयोग लगायेंगे वे राग बढ़नेके ही कारण बनेंगे, उनसे सिद्धि न होगी। कहाँ उपयोग लगायें जिससे कि हमारा चित्त स्थिर हो सके? अपना जो सहजस्वरूप है केवल ज्ञानज्योति सहज सिद्ध उसमें अपना उपयोग लगायें। इससे ही सर्व रागादिक विकारोंका विस्तार दूर होगा।

सहज सिद्ध स्वरूपका सस्मरण—जो सहज सिद्ध आत्मतत्त्वका स्वरूप है वही तो जहाँ प्रकट होता है, अनावृत होता है वही तो सिद्ध है। सहज सिद्ध भगवान हैं जिनकी कभी कभी आप लोग वचनोंसे पूजा भी कर लेते हैं, सहजसिद्धमहं परिपूजये। तो सहज सिद्धका जो एक प्रचलित अर्थ है जो सहज ही सिद्ध हो गए, कर्ममुक्त भगवान, सिद्ध परमेष्ठी और सहज शुद्ध का जो मर्म है, जो सहज ही उसके साथ-साथ निष्पन्न है उसे कहते हैं सहज सिद्ध। अर्थात् उसकी जबसे सत्ता है तबसे ही जो बात निष्पन्न है और जिसमें न कभी कमी आती, न कभी अधिकपना बढ़ता, ज्योंका त्यों है, ऐसा जो सहज सिद्ध स्वरूप है, हम आपमें कुछ भी है, अनादिकालसे है, अनन्त काल तक रहेगा, लेकिन वह इस प्रकारसे गुप्त हो रहा है जैसे दूधमें घी। दूध निकाला, जो दो चार सेर दूध है उसमें घी है कि नहीं? आँखों देखो कहीं दिखता नहीं, उलट-पलट करके घी कहीं नजर नहीं आता, और जो घी है वह आवृत है, किस ढगसे आवृत है? कहीं इस तरह नहीं ढका है जैसे त्यागियोंके भोजन पर कपड़ा ढक दिया जाता है चारों ओर से। उसे उघाड़ लो। दूधमें घी है, और किस प्रकारसे है, समझ लीजिए। इस तरह हमारा आपका सबका जो वर्तमान आत्मा है उस आत्माका यह सहज सिद्ध मौजूद है जैसे उपाय करनेसे दूधमें से घी प्रकट हो जाता है इसी तरह उपाय करनेसे श्रद्धान ज्ञान और चारित्रका उपाय करनेसे इस

आत्मामें जो सहज सिद्धरूप बसा है वह स्पष्ट प्रकट हो जाता है। जैसे उस घी को ढकने वाले जितने कण हैं उन कणोंको दूर करनेसे घी प्रकट हो जाता है इसी तरह इस सहज सिद्ध स्वरूपको ढकने वाले जितने विकार हैं उन विकारोंके दूर करने से स्वरूप प्रकट हो जाता है। यह सहज सिद्ध-स्वरूप देहसे ढका है यों न निरखें, उसकी चर्चा नहीं है। यह देहसे ढका हुआ नहीं है, खूब भीतर देख लो। देहका सम्बन्ध तो है पर ढका हुआ नहीं है। ऊपरसे लगता है कि देहसे ढका है पर उस ढके की चर्चा की जा रही है जैसे कि घी दूधके अशोंसे ढका है। इसी तरहसे यह सहज सिद्ध-स्वरूप रागादिक विकारोंसे ढका है। यहाँका आवरण निरखिये। एक बर्तन से दूधका घी ढका है ऐसी बात न निरखकर दूधके अशोंसे ही घीका अंश ढका है यों देखिये। ऐसे ही देहसे मैं ढका हू ऐसा न निरखकर रागद्वेषादिक विकारोंसे मैं ढका हुआ हूं। उसके बाह्य उपाय तो किए जाते हैं किन्तु अन्तरमें कैसा छटाव चलता है, उस दूधमें जिस छटावसे घी आसानीसे प्रकट हो जाता है, दूधको जमाया, दही किया, एक ऐसी भीतरमें छटावकी बात आयी, कुछ उससे यह घी ढीला हुआ, उन सब रंगोंमें रहकर भी ढीला हुआ। दूधको बिलोकर घी बनानेमें जितनी कठिनाई पड़ेगी उतनी कठिनाई दहीको बिलोकर घी बनानेमें नहीं पड़ती। यह एक छटावका ही अन्तःयत्न हुआ। और फिर ऊपरी छटावसे मथानीको मथकर छांछके रूपमें उस सबको निकालकर घी प्रकट कर लिया जाता है। ऐसे ही अन्तःमथन करना होगा, उसमें ऐसा छटाव चलेगा कि प्रथम तो भेदविज्ञानका छटाव चलेगा जिससे यह बन्धन ढीला हो जायगा, फिर इसके बाद तपश्चरण और सयमसे सर्वविकारोंको अलगकर यह सहज सिद्धस्वरूप प्रकट किया जा सकता है। इन सब बातोंको प्राप्तिके लिए कितनी बड़ी कुर्बानी करनी होगी, तैयारी करनी होगी, उसे अंदाज करो और उसका उत्साह रखो।

रागादिविकारको क्षीण करके शुद्ध चित्तसे ध्यान करनेका उपदेश—भैया! केवल धन वैभवकी तृष्णासे आप क्या अपना पूरा पाड़ लेंगे? खूब सोच लीजिए? खानेको तो दो रोटी और ढाकनेको कपडे चाहिएँ। और तो कुछ आपके काममें नहीं आ रहा, फिर तृष्णा किस बातकी इतना अधिक जिसके कारण अपने चित्तको व्यग्र किया जाय और धर्मध्यानके सुन्दर अवसरको खो दिया जाय। शायद यह सोचते हो कि हम मरकर तो जायेंगे पर सब धन लड़कोंको धर जायेंगे। तो प्रथम तो यह बताओ कि संसारमे ये अनन्तानन्त जीव हैं जिनकी कोई संख्या नहीं, आपकी बुद्धिने उन अनन्तानन्त जीवोंमें से दो चारको छांट रखा तो आपकी बड़ी पैनी बुद्धि है, क्योंकि

आपने जो कभी आपके बन नहीं सकते उन दो चार जीवोंको छाटकर रख लिया है, ये मेरे हैं ऐसी मान्यता आपने बना रक्खी है। अरे जिन्हें आज अपना माना है पता नहीं वे पूर्वभवमें आपके कौन थे। आपने जिन्हें आज पड़ौसी माना है अथवा विरोधी माना है कहो वही आपके पूर्वभवके हितू रहे हों। कुछ विवेक तो करो, आत्मदया तो करो। अपने चित्तमें तृष्णा न बसावो, तो जब तक यह व्यर्थका राग रहेगा तब तक ध्यानमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। इस कारण हे भव्य पुरुष! तू देख ले, यदि रागादिक भाव क्षीण हो गए हों तो तुझे ध्यानकी चेष्टा करना चाहिए नहीं तो उसी सफाईमें लग। जैसे कोई किसी भींतमें चित्र बनानेका उद्यमी हो जाय तो उसे कोई मालिक वगैरह रोकता है—अरे देख तो ले अभी भींत चिकनी है या नहीं, मजबूत हो गयी है या नहीं, अगर भींतकी छार खिर जायगी तो तेरे चित्र बनानेसे क्या लाभ है। अभी तू चित्र मत बना। ऐसे ही यहाँ समझा रहे हैं कि पहिले अपनी परख तो कर। तेरे आशयमें मोह बसा है या नहीं? अगर बसा है तो ध्यानका यत्न न कर, तू तो मोह दूर करनेका प्रयास कर। यद्यपि मोहका मिटाना भी ध्यानके प्रयाससे बनेगा, किन्तु ध्यानका पात्र निर्मोह ही होता है, और उत्तरोत्तर वही बढ़ता है जो निर्मोह हो। इस कारण निर्मोहताके लिए विशेष उपदेश किया जा रहा है।

यदि संवेदनिर्वेदविवेकैर्वासितं मनः।
तदा धीर स्थिरीभूय स्वस्मिन् शान्तं निरूपय ॥२६६॥

संवेद, निर्वेद और विवेकसे वासित हृदयमें ध्यानपात्रता—हे धीर पुरुष! यदि तुझमें सम्वेग जगा है अर्थात् मोक्ष और मोक्षमार्गका अनुराग है तो तू स्थिर होकर फिर अपनेको अपने आपमें निरख सकेगा। जिस पुरुषका मोक्ष और मोक्षमार्गमें अनुराग होता है उस पुरुषको संसार देहोंसे वैराग्य रहता ही है। यदि अनुराग जगे तो धर्मात्माजनोंमें जगेगा, परमेष्ठियोंमें जगेगा, अन्यत्र तो एक जैसे काम निकालनेका काम हो इस तरह घरमें रहेगा व सगमें रहेगा। अनुराग तो मूलत पचपरमेष्ठियोंपर, और धर्मके साधनों पर होगा। तो देख यदि तुझमें सम्वेगभाव उत्पन्न हो गया हो तो अपने आपको अपनेमें निरख सकेगा। विवेक जगा हो अर्थात् स्व परका भेदविज्ञान निरन्तर बस रहा हो, जैसे व्यवहारमें मिले हुए अनाजोंमें भिन्न-भिन्न जानकारी रहती है, यह गेहू है, यह चना है, यह जौ है इसी तरह मिले हुए इस पिण्डमें ऐसी ये शरीरवर्गणायें, ये कर्मवर्गणायें हैं, ये तैजसवर्गणायें हैं, ये कोई जीव है, यह विकार है, यह सुलम्मा है, इन सब बातोंका जिसमें भेदविज्ञान होता है और इस भेदविज्ञान

में ही जिसका मन वशीभूत रहता है वह ही पुरुष अपने आपमें अपने अतस्तत्त्वको निरख सकता है। जो अन्तस्तत्त्वका रुचिया है उसका अतस्तत्त्व अवश्य प्रकट होगा। परपदार्थोंकी रुचि करनेसे पर मिले या न मिले, पर अतस्तत्त्वकी रुचि करनेपर अतस्तत्त्व अवश्य रुचेगा। तो अपनी परख कर। सम्वेगमें, भेदविज्ञानमें तेरा चित्त लगता हो तो तेरी दृष्टि अपने स्वरूपकी ओर आ जायगी और जब अपना मालिक अपना स्वरूप अपने आपकी दृष्टिमें आयगा, समझिये कि संसारके संकट उसके सब टल जायेंगे। यहांके संकटोंके पालनेका क्या यत्न करते हो? एक संकट टाला तो दो सकट सामने हैं, और संकट भी कुछ नहीं, एक कल्पनाओंका सकट मिटाया और दो कल्पनाएँ नई खड़ी हो गई, वही सकट हो गया। तो इन कल्पनाओंका सकट मिटाना इन कल्पनाओंके द्वारा तो सम्भव नहीं है। कोई तराजूपर एक किलो जिन्दा मेढक भला तौलकर दिखा दे। दो मेढक धरेगा तो दो उछल जायेंगे, चार धरेगा तो चार उछल जायेंगे। जिन्दा मेढक तौले नहीं जा सकते हैं, इसी तरह कल्पनाओंमें बसकर कल्पनाओंके सकट मिटाये नहीं जा सकते हैं। अपने सहज सिद्धस्वरूपकी खबर ले और सांसारिक सकट मिटाकर अपना मार्ग निर्बाध बना दे, यह ही तेरे लिए शरणभूत है।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२६७॥

देह, काम, भोगसे विरक्त होकर ध्यानका लाभ लेनेका अनुरोध—हे ध्यान के इच्छुक पुरुष! काम शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर यदि तू निर्ममत्त्व भावको प्राप्त होता है तो तू ध्याता है अन्यथा नहीं है। निममता काम, भोग और शरीरकी स्पृहा त्यागनेपर ही सम्भव है। कामका अर्थ है अनेक प्रकार की मनकी कामनाएँ। जो मनसे विकार उत्पन्न होता है वह काम है। और जो इन्द्रियोंके द्वारा भोगा जाय उसे भोग कहते हैं। स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द और शरीर यह है ही, इन तीनोंसे स्पृहा छूटे तो तू ममत्त्वरहित हो सकता है और ममत्त्वरहित होनेपर ही तू ध्याता है। यदि चित्त इन्द्रिय के भोगोंमे लगा है, विषयसाधनोंमें लगा है तो वह ध्यान कैसे सम्भव है, लेकिन जिसका भोगोंमें भी ध्यान कम हो लेकिन शरीरको हृष्टपुष्ट देखकर खुश हो रहा हो, शरीरसे अपना ममत्त्व रहा हो ऐसा अभिलाषी पुरुष भी ध्यानका पात्र नहीं होता। शरीरमें अनुराग होगा तो उसे सम्हालने और पुष्ट करनेमें ही मन लगा रहेगा। किसी किसीको देखा होगा नहानेमें पौन पान घटेका समय लग जाता है, फिर नहाकर साज श्रृङ्गार करता। इनमें

ही जो लगा रहेगा वह ध्यानका पात्र क्या बनेगा। अथवा जिसे शरीरमें अनुराग है रोग आदिक होनेपर वह शरीरके पीछे ही अपना सारा समय लगायेगा, ध्यान क्या करेगा। जिसे शरीरमें अनुराग है वह शरीरके नाशकी बात सुनकर ध्यानमें कैसे लगेगा? ध्यानमें चित्त लगना उसीका सम्भव है जो अपने दिलको इतना कड़ा बनाये कि केवल मेरेको मेरे आत्मासे ही प्रयोजन है। इस आत्मगृहसे बाहर कहीं कुछ भी बने बिगड़े तो उससे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं है। इतनी कड़ाई जब चित्तमें आये अर्थात् अपने आत्माके प्रति इतना नम्र बने तो उसको ध्यान सम्भव है। इस कारण हे ध्यानके इच्छुक पुरुष! यदि तुझे ध्यानकी कामना है तो तू यत्न कर, ज्ञानरूप यत्न कर जिसके प्रसादसे तू ममतारहित बनेगा और ध्यानका पात्र होगा।

निर्विण्णोसि यदा भ्रातदुरन्ताज्जन्मसंक्रमात्।
तदा धीर परां ध्यानधुरां धैर्येण धारय ॥२६८॥

जन्मसंक्रमणसे निर्विण्णता होनेपर ही ध्यानधुरा धारण करनेकी शक्यता—ध्यानका पात्र कौन हो सकता है, इस विषयका यहा वर्णन चल रहा है, ध्यानके लिए कैसी तैयारी होना चाहिए जिससे अपने ध्यानमें वह सफल हो सके? अपने स्वरूपका ज्ञान बने और उस सहजस्वरूपकी रुचि बने तो सब काम अपने आप हो जायेंगे। एक बात यदि अपने आपकी जानकारीकी मिल जाय तो कैसे क्या करना होता है वह सब सुगम समझमें आ जायगा। उसी ज्ञातास्वरूप रहनेका नाम है मोह रागद्वेषका त्याग करना। ससार शरीर और भोगोंसे विरक्त होना, कषायोंको तजना, जितनी भी बातें त्याग सम्बधी बतायी जावें वे सब इसमें ही गर्भित हैं। तुम मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहो, केवल जाननहार रहो। कोई यह कहे कि केवल जाननहार रहें, सयम आदिकसे क्या प्रयोजन, तो ठीक है, कुछ प्रयोजन नहीं। पर अनादिकालकी वासनाओंमें बसे हुए लोग कभी विवेक भी पा जायें तो एक बार सहजस्वरूपकी जानकारी हो जानेके बाद ही एकदम वह ज्ञाताद्रष्टा रह सके, यह बात अशक्य है और उसी कारण सर्वबाधाएँ टालनेके लिए सयम तपश्चरण ये सब धारण किए जाते हैं। हे धीर पुरुष! यदि तू ससारके भ्रमणोंसे विरक्त है तो तू उत्कृष्ट ध्यानको धारण कर, फिर देख ले कि इस संसारके भटकनोंसे भय उत्पन्न होता है कि नहीं। खूब सोच करके निरखो तो यही दिखेगा कि प्राय सभी लोगोंको अभी संसारके भ्रमणसे भय नहीं उत्पन्न हुआ। जैसे लौकिक कामोंमें हम भय मानते हैं तो किस तरहसे डरते हैं और हटते हैं और ससारमें हमारा जन्म मरण चलता है, नाना

शरीर धारण करते हैं इन बातोंसे विरक्ति हुई है कि नहीं, सो तो निरख। यदि होता है वैराग्य तब तो सुगम काम है ध्यानका धारण करना। जैसे मास्टर अनेक बच्चोंको पढ़ाता है पर कोई बच्चा तो जरासी बात सुनकर उसका पूरा अर्थ निकाल लेता है, उसे समझ लेता है और कोई बच्चे ऐसे हैं कि बारबार समझानेपर भी नहीं समझ पाते हैं। तो वहां उन बच्चोंकी प्रतिभाका अन्तर है, उनकी धारणाका, ज्ञानशक्तिका, क्षयोपशमका भी अन्तर है। तो जैसे प्रतिभा, पात्रता, क्षयोपशम होनेपर उसके जानकारीका उपाय सुलभ हो जाता है ऐसे ही कोई पुरुष अपने आपकी तैयारी करके ध्यानकी बात सुने, भेदविज्ञानकी दृढतम भावनासे संसार, शरीर, भोगोंसे उपेक्षा करके अपने आपकी ओर ही बसकर समझा जाय, सोचा जाय तो उसमें इतनी पात्रता है कि ध्यानकी बातको सुलभरूपसे साध सकता है।

ससारसे अविरक्त पुरुषोंके जन्मसक्रमणकी बाधा—जो संसारसे विरक्त नहीं है उसका ध्यानमें चित्त नहीं ठहर सकता और वह अपनी सांसारिक क्रियावोंमें बड़ा अभ्यस्त और चतुर बन जाता है और वहां ही अपनी चतुराई समझता है। आत्मदया चतुराईकी बात है यह उसके चित्तमें नहीं बैठता। कितने ही लोग तो स्पष्ट कहते हैं कि धर्म तो वह करे जिसके दरिद्रता हो, कष्ट हो, रोग हो, जब सब साधन मौजूद हैं तो धर्मका क्या काम। वे समझते हैं कि धर्मका प्रयोजन है सुखसाता बनाये रखना, और उसीमें चलते रहना। जैसे शास्त्र सभामें किसीको नींद आने लगती है, उससे कहे भाई क्यों सोते हो? तो वह कह देगा कि सो नहीं रहा, मैं ध्यानसे सुन रहा हू। वह सब उत्तर पहिलेसे ही जमा हुआ रहता है। उसे सोचने की जरूरत नहीं रहती। ससारके सभी प्राणियोंमें उसका चित्त ऐसा जमा हुआ रहता है कि सारे समाधान उसके पास हैं सांसारिक सुखव्यवहारमें लगनेके। जब तक संसारसे विरक्ति न आये तब तक ध्यानका पात्र नहीं होता। प्रथम तो द्रव्यससारसे ही विरक्त होना कठिन है। जो समागम मिले हैं उनसे भी विरक्त होना कठिन है। दूसरे जन्ममरणसे व्यञ्जनपर्यायोंके धारण करनेरूप जो ससार है उससे विरक्त होना कठिन है। फिर अपने आपके आत्मामें रागद्वेष आदिक विकार होनेरूप जो भावससार है उस भावससारसे विरक्त होना और भी कठिन बात है। द्रव्यससार और भावससार और उसके बीचका सारा ससार इन तीनसे विरक्त हो तो ध्यानमें चित्त ठहर सकता है। नरकोंमें अन्य दुःख हैं, तिर्यञ्चगतिमें अन्य दुःख हैं, मनुष्य और देवगतिमें अन्य दुःख हैं। यह जीव इन चारों गतियोंमें जन्म मरण करता हुआ चक्कर लगा रहा है। तू अपने

मनमें यह भावना बना कि मुझे तो ससारके चक्रसे हटना ही है, हमारा तो यही प्रोग्राम है, मुक्तिका ही प्रोग्राम है मेरा। यदि ऐसा दृढ़ प्रोगाम बना पाया हो तो आ, अब तू ध्यानका पात्र है। ध्यानकी बातको सुन।

पुनात्याक्रमित चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम्।
ध्यानतन्त्रमिद धीर धन्ययोगीन्द्रगोचरम् ॥२६६॥

ध्यान शास्त्रके श्रवणसे चित्तकी पवित्रता—यहा तक तो ध्यानका पात्र कौन होता है और ध्यानकी बात सुननेके लिए तुझे कैसी तैयारी करना है, इसका वर्णन किया है। अब ध्यानकी प्रशसा करते हैं। यह ध्यानका तंत्र चित्तको पवित्र करता है। तत्र मायने शास्त्र भी है। ध्यानका प्रतिपादन करने वाले शास्त्र सुननेसे चित्तमें पवित्रता जगती है, और तत्रके मायने अनुष्ठान भी है, ध्यानके लिए जो कुछ भी प्रयोजन बनाये जाते हैं, जो उपक्रम किये जाते हैं वे उपक्रम चित्तको पवित्र बनाते हैं। सुखमें और आनन्दमें यह तो एक अन्तर है। सुख तो मलीमसतासे भरा हुआ है और आनन्द पवित्रतासे भरा हुआ है, इनके भोगनेमें भी अन्तर है सुखमें प्रसन्नता नहीं रहती, आनन्दमें प्रसन्नता रहती है, लेकिन सासारिक विषयसुखोंको भोगकर मुझे आनन्द होता है ऐसी जो धारणा रखता है वह केवल एक कहना मात्र है। उन्हें प्रसन्नता नहीं है। जिसे प्योर प्रसन्नता कहते हैं वह प्रसन्नता विशुद्ध पवित्र प्रसन्नता एक ज्ञानचर्यामें है, ज्ञानदृष्टिमें है। अपने आपके ज्ञानकी भावना में वह प्रसन्नता है इसका अन्दाज कर लो, कभी जब किसी भी इन्द्रियको भोग न रहे हों, ज्ञानकी दृष्टि दे रहे हों, अपने आपकी एकताकी ओर झुक रहे हों उस समयमें प्रसन्नता तो होती है उसको शरीरको मद मुस्क्यान के साथ या मदपरिवर्तनके साथ, पर वह है विशुद्ध आनन्द। और, सांसारिक मर्मोंमे यह जीव मौज मानता है शरीरके विशाल परिवर्तनके साथ। तो भी वहां प्रसन्नता नहीं है। ज्ञानकी बात सुनकर बहुत जोरसे कोई न हँसेगा पर प्रसन्नता अत्यन्त अधिक होगी। और, सासारिक भोगोंकी बात सुनकर जोरसे हँसेगा, शरीरका बड़ा परिवर्तन कर लेगा, किन्तु प्रसन्नता वहा कुछ नहीं है। ज्ञानसे उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता और इन सब विषयभोगोंसे उत्पन्न होने वाली मौज इनमें बहुत अन्तर है। कोई उपमाकी बात नहीं लग सकती है। यह ध्यानका शास्त्र, यह ध्यानका उपक्रम चित्तको पवित्र करता है। तीव्र रागादिकभावोंको मिटा करके चित्तको विशुद्ध बनाता है। द्वेषमें भी मलिनता है और उससे भी अधिक मलिनता रागमे है, जो है नहीं अपना उसे अपना मान लिया तो यह मलीमसताकी

ही तो बात है। दूसरेके मोहको देखकर दूसरे हँस सकते है। खुदको तो पता भी नहीं पड़ता कि मैं कुछ विडम्बनाका काम कर रहा हूं। तो तीव्र रागादिक भावोंका अभाव ध्यानशास्त्रके सुननेसे होता है। श्रवण करना यह चित्तके विशुद्ध बनानेके उपायोंमे एक विशेष उपाय है।

ध्यानतन्त्रमे उपदिष्ट अनुष्ठानके विधानसे शिवस्वरूपका लाभ—भैया ! बात ही सुन-सुनकर क्या यह निर्मोह नहीं बन सकता ? घरमें परिजनकी मित्रों की बातें ही तो सुनते हैं, बातें सुना, राग बन गया, मोह बन गया। बातें सुननेसे राग बनाया तो ज्ञानकी बातें सुननेसे राग मिट जायगा क्या, यह बात सम्भव नहीं हो सकती है ? किसी भी बातको बारबार सुननेसे चित्त में एक प्रभाव बनता है। जब कोई घरमें बालक बड़ा है, कुछ थोड़ासा विवेक जगा है, कुछ निर्मोहताकी बात उसके चित्तमें है और बातें भी धर्म की बहुत करता है, और उसका यह संकल्प होता है कि हम गृहस्थीमें न फसेंगे, अविवाहित रहेंगे, धर्मसाधना करना हमारा काम है। ऐसे बहुतसे बालक देखे होंगे, पर बारबार समझानेसे कुछ पिताने समझाया, कुछ बुवाने, कुछ मौसाने, कुछ किसीने समझाया तो बातें सुननेसे आखिर वह गृहस्थ बनता ही है। ऐसे दसों दृष्टान्त ले लो जिन जिनके प्रसगमें आप आये हों। तो बारबार सुननेसे लोग एक रागकी विडम्बना बना लेते हैं। तो उस विपदाको मिटानेके लिए क्या यह कर्तव्य नहीं है कि हम ध्यानकी ज्ञानकी वैराग्यकी बातें बहुत-बहुत सुने। और, न सुने कोई ध्यानके शास्त्र, वैराग्यके शास्त्र तो उसकी हालत अति दयनीय हो जायगी, लेकिन जो अच्छी तरहसे जिन्दा रहते हैं वे मनुष्य ज्ञान और वैराग्यकी बातें किसी न किसी रूपमें सुनते हैं इसलिए अच्छी तरहसे जीवित हैं। यदि ज्ञान और वैराग्यकी बातें इसे सुननेको न मिले तो इसके जीवनकी गाड़ी चलनी मुश्किल हो जायगी। जैसे लोग कहते हैं कि भारतमें धर्म है बाहर नहीं है। अरे सभी जगह धर्म है जहां मनुष्यसमाज है। सर्वत्र धर्मकी बात बनी है तब यह जीवनकी गाड़ी चल रही है। कोई पाप करे, भोग हो भोगमें बना रहे तो उसके जीवनकी गाड़ी तक भी नहीं चल सकती। थोड़ी देरको ऐसा भी सोच लो कि कोई खाता ही खाता रहे तो उसकी जीवन गाड़ी नहीं चल सकती। दो एक दिनमें साफ हो जायगा। तो अब कुछ त्यागमें चले तो उसके जीवनकी गाड़ी चलेगी। यों हो समझिये कि जो मनुष्यसमाज बना हुआ है वह धर्मके प्रसादसे बना हुआ है। यदि अधर्म और भोगोंमे ही यह खपा रहे तो इसकी गाड़ी नहीं चल सकती। तीव्र राग कोई करता रहे तो वह मिट जायगा। बीच-बीचमें राग मिटनेकी बात भी थोड़ी आती

रहना चाहिए। इससे चित्तकी विशुद्धि होती है। और जहाँ चित्त विशुद्ध होता है वहाँ जो ध्यान बनता है वह ध्यान एक अपूर्व प्रसन्नता उत्पन्न करता है। यह ध्यानका शास्त्र सुननेसे आचरण किया हुआ यह उपाय मोक्ष को देता है। ये सब बातें योगीश्वरोंके द्वारा जानी हुई हैं, और योगीश्वर ने यों बताया है इस कारण इस ध्यानतन्त्रका तू भी स्वाद ले अर्थात् इस ध्यानतंत्रको सुन और इसका उस रूपसे आचरण कर।

विस्तरेणैव तुष्यन्ति केऽप्यहो विस्तरप्रियाः।
संक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥२७०॥

संक्षेप और विस्तारमें उपदेश करनेका प्रयोजन—आचार्यदेव कह रहे हैं कि बहुतसे पुरुष तो विस्तारसे ही प्रसन्न होते हैं और बहुतसे पुरुष संक्षेप में ही रुचि रखने वाले होते हैं। चित्तकी वृत्तियाँ नानाप्रकारकी हुआ करती हैं। तो जैसे श्रोता हों उसी प्रकारका परिभाषण करना चाहिए। और भी सुनिये। दो प्रकारका प्रतिपादन होता है—एक संक्षेपसे एक विस्तारसे। यदि प्रथम ही प्रथम विस्तारसे प्रतिपादन कर दें तो संक्षेपसे जो अपनी प्रतिपादन रुचि रखते हैं उनका तो कुछ सवाल ही नहीं रहा और संक्षेपसे यदि कुछ वर्णन करते हैं तो संक्षेपमें रुचि रखने वाले श्रोतावोंका काम तो पूरा बन गया और विस्तारको सुनने वाले श्रोतावोंको भी बाधा न हुई। संक्षेपसे ही तो विस्तार बनता है। अतएव ध्यानकी बात प्रथम संक्षेपमें कही जायगी। जो योग्य पात्र होते हैं, थोड़ेमें बहुत अधिक समझ जाते हैं वे अधिक बातें सुननेसे ऊब जाते हैं, उनकी चित्तवृत्ति फिर उस ओर नहीं रहती है। जब योग्यता नहीं होती है थोड़ीसी बात सुनकर समझनेकी तो उन्हें विस्तारपूर्वक कहा जाता है, पर वह विस्तार क्या एकदम बन जाता है? विस्तार भी तो संक्षेपके पश्चात् बना करता है। जैसे कोई गाड़ी या मनुष्य बैठा हुआ हो और बैठनेके बाद एकदम भागे तो पहिले दौड़ बनती है कि चलना बनता है? पहिले तो धीमी गतिसे चले, फिर उसमें दौड़ बन जाती है ऐसी ही पद्धति है प्रतिपादनमें और सुननेमें भी यही पद्धति लगाई जानी चाहिए। तो संक्षेप रुचि रखने वाले श्रोतावोंका ध्यान रखकर आचार्यदेव उसका संक्षेपमें थोड़ासा वर्णन करेंगे और फिर संक्षेपमें वर्णन के बाद अनेक अध्यायोंमें विस्तारसे वर्णन करेंगे। प्रत्येक ग्रन्थकी यही बात है। समयसार ग्रन्थमें पूरे ग्रन्थमें जो कुछ बताया जाना था वह सब आदि की ८-९ गाथावोंमें बता दिया गया है। संक्षेपमें रुचि रखने वाले इस मर्म को पहिचानते हैं, बादमें अधिकारक रूपमें विस्तारसे वर्णन हुआ। सभी ग्रन्थोंमें यही शैली अपनाई गई है। तो यह ग्रन्थ एक ध्यानका है। इस

ध्यान ग्रन्थमें सर्वप्रथम बहुत संक्षेपमें ध्यानका वर्णन किया जायगा, पश्चात फिर विस्तारपूर्वक ध्यानका वर्णन चलेगा। ध्यानमें अध्ययनका ही एक संयत और विस्त्रितरूप है अतएव ध्यानक सावध ज्ञानसे अधिक है। ज्ञानसे ध्यान बनता है और फिर ध्यानसे ज्ञानकी पूर्णता बनती है। तो ध्यानका वर्णन करनेके लिए कुछ थोड़ासा ज्ञानका वर्णन किया जायगा।

संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात्।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ॥२७१॥

जीवके आशयोंकी त्रिविधता--संक्षेपमें निरूपण करनेकी जिनकी रुचि है ऐसे पुरुषोंने सूत्रसे, आगम परम्परासे आत्मनिश्चयपूर्वक देखकर जानकर तीन प्रकारकी चित्तवृत्तियां बतायी हैं क्योंकि जीवके अभिप्राय तीन प्रकारके होते हैं। उपभोगकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे चलती है। जीवका लक्षण उपयोग है। उपयोगका अर्थ है ज्ञानदर्शनगुणका सम्बन्ध रखने वाले जो परिणमन हैं उनका नाम उपयोग है। व्यवहारमें उपयोगका अर्थ है काममें लेना, उपयोग करना, यूज करना। तो ज्ञान और दर्शनका जो यूज है, परिणमन है, काम करना है वह है उपयोग। वह उपयोग स्वभावतः तो एक ही प्रकार परिणमना चाहिए, किन्तु इसके साथ जो उपाधि लगी है जीवसे उस निमित्तसे उपयोगके उपयोगरूपसे दो और परिणमन बताये हैं। एक शुभ और एक अशुभ। तो चूँकि जीवके अभिप्राय तीन प्रकारके हैं इस कारण चित्तकी वृत्तियां तीन प्रकार बतायी गई हैं। वे तीन कौन प्रकार हैं, उन आशयोंका व्याख्यान करते हैं।

तत्र पुण्याशय पूर्वस्तद्विपक्ष ऽशुभाशय।
शुद्धोपयोगसंज्ञो य स तृतीयः प्रकीर्तितः ॥२७२॥

जीवके त्रिविध आशय--एक तो पुण्याशय है, दूसरा अशुभाशय और तीसरा शुद्धोपयोग, इस प्रकार तीन प्रकारकी चित्तवृत्तियां अथवा आशय बताये गए हैं। जिस आशयमें न पुण्य है न पाप है, किन्तु केवल एक स्वभावपरिणमन है, ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप ही परिणमन है उसे कहते हैं शुद्धोपयोग। और जहां पुण्यरूप आशय है वह है पुण्याशय और जहां पापरूप आशय है वह है पापाशय अथवा अशुभाशय, जिन्हें प्रसिद्ध शब्दोंमें यों कहो--अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। शुद्धोपयोगके कई प्रकार नहीं हैं, वह एक ही रूप रहता है। हां कदाचित् विकासकी अपेक्षा इसमें यह प्रकार बोला जा सकता है कि यह कम विकासका शुद्धोपयोग है, यह अधिक विकासका शुद्धोपयोग है। जितने भी विकसित भाव हैं वह सब एक ही प्रकारका है। और, वैसे तो जो पूर्णतया शुद्ध है उसे शुद्धोपयोग

कहते हैं। शुभोपयोग असंख्याती प्रकारका होता है और अशुभोपयोग उससे असंख्यातोंगुने प्रकारका होता है।

संसारके ये समस्त प्राणी प्राय अशुभोपयोगमें रत हैं। शुभोपयोग की बात संज्ञीपञ्चेन्द्रियमें ही तो हो सकती है। असंज्ञी जीव तो सभी अशुभोपयोगी हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन चार संज्ञावोंरूप ज्वरोंसे पीड़ित हैं। जहा केवल विषयकषायोंसे ही संम्बध है, और विषयोंके साधनभूत परपदार्थोंका ही जहा आश्रय है वह सब अशुभोपयोग ही तो है। शुभोपयोग कुछ विवेक जगे तब उत्पन्न होता है। जहा मदकषाय हों, धर्म और धर्मसम्बधित घटनाओंमें धर्मात्माजनोंमें जहा रुचि जगती हो, उनका संग रुचता हो, गुण रुचता हो वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है। शुभोपयोगियोंकी संख्या अशुभोपयोगियोंके अनन्तवें भाग प्रमाण है। शुभोपयोगियोंसे अनन्तगुणे अशुभोपयोगी जीव हैं।

जीवका हित तो शुद्धोपयोग है और उस शुद्धोपयोगमें चलने वाले जीवोंके शुभोपयोग होता है और शुभोपयोगकी परिणतिया पाकर यह जीव शुद्धोपयोगी बन पाता है, इस कारण शुभोपयोग भी उपादेय कहा गया है, पर इसकी उपादेयता कुछ काल तकके लिए है। शुभोपयोग सर्वथा उपादेय नहीं है। अशुभोपयोग तो सर्वथा हेय है। अशुभोपयोगसे जीवकी कोई सिद्धि नहीं है। हम आप सब अपनी चर्यामें यह भी तो देखते रहें कि हम अपना उपयोग किस ढंगके बनाये जा रहे हैं। कभी शुद्धोपयोग की भावना भी जगती है या नहीं। अशुभोपयोगमें हम कितनी देर बहते चले जाते हैं, जहां धर्मका सम्बन्ध नहीं है वहा जितनी भी कल्पनाएँ उठ रही हैं वे सब अशुभोपयोग ही तो हैं। तो अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगमें आकर शुभोपयोगको पार करके शुद्धोपयोगी बनना, यही है मोक्षमार्गियोंकी पद्धति। अब तीन प्रकारके आशयोंमें से प्रथम जो शुभोपयोग है उसका वर्णन करते हैं।

पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्।
चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्त ध्यानमुच्यते ॥२७३॥

शुभोपयोगके वर्णनका उपक्रम—पवित्र आशयके वशसे और विशुद्ध लेश्याके अवलम्बनसे तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपके चिन्तवनसे जो उत्पन्न हुआ ध्यान है वह प्रशस्त ध्यान है, यही शुभोपयोग है, इसको ही पुण्याशय कहते हैं। पवित्र अभिप्राय होनेसे यह प्राणी अपराधोंसे दूर होता है। कभी लोकव्यवहारमें भी देखा होगा अपने मित्रसे, सेवकसे अथवा परिवार के किसी व्यक्तिसे कोई गलती भी बन जाय और आशय उसका गलती

करनेका न हो, पवित्र आशय हो और फिर भी बिगड़ जाय तो वहां वह अपराध क्षम्य होता है। उसे अपराधी मानकर बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है। पुण्यका आशय हो पर जो भी चेष्टायें होंगी वे चेष्टायें विरोध करने वाली न होंगी, पर कदाचित् तीव्र ही ऐसा कर्मका उदय आये कि पुण्यका आशय होकर भी चेष्टा कुछ विपरीत बन जाय तो भी वहां पुण्याशय है, और शुभोपयोग है।

भावसे उपयोगका प्रकार बननेका कथन--एक ऐसी छोटीसी कहानी बतायी है कि दो भाई थे। एक भाई तो चला गया लकड़ी बीनने, रसोईमें जरूरत थी और उस दिन थी पूजाकी बारी, सो एक भाईको भेज दिया पूजा करने। अब लकड़ा बीनने चला जंगलमें सोचता है कि हम कहां फँस गए, लकड़ी बीनने चले आए, हमारा भाई पूजा कर रहा होगा प्रभुके गुण गा रहा होगा। पूजा करने वाला सोचता है कि हम कहां फँस गए, भाई तो जंगलमें आमके पेड़पर, जामुनके पेड़पर चढ़ रहा होगा। गीत गा रहा होगा, मौज कर रहा होगा। अब देखिये आशयके वश तो लकड़ी बीनने वाला तो पुण्याशयमें है और पूजा करने वाला पापाशयमें है। कर्म यह नहीं देखते हैं कि यह जीव शरीर से क्रिया क्या कर रहा है, इसे देखकर हम बंधे सो बात नहीं है। कर्मका तो जीवके आशय के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। पुण्यका आशय होगा तो पुण्यप्रकृतिका बंध है और पापका आशय होगा तो पापप्रकृतिका बंध है। पुण्याशयके वशसे जो ध्यान उत्पन्न होता है वह शुभोपयोग है, प्रशस्त ध्यान है।

अभ्यासमें भी लगता है। और, शुक्ल लेश्यामें जीव पक्षपातरहित शुद्ध आशय रखता है। यों विशुद्ध लेश्याका अवलम्बन हो तो वहां जो ध्यान बनता है वह भी प्रशस्त ध्यान है, शुभोपयोग है।

वस्तुस्वरूपके चिन्तनसे ध्यानकी प्रशस्तता—वस्तुस्वरूपके चिन्तनसे भी प्रशस्त ध्यान होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभावमात्र हैं और प्रतिक्षण अपने स्वरूपसे परिणमन करते जाते हैं। यदि उन पदार्थोंका त्रैकालिकरूप अनुमानमें लाया जाय, तो वह पदार्थ अनादिसे अनन्तकाल तक रहता है और वह किसी न किसी पर्यायमें सदा बना रहेगा। किसी न किसी पर्यायके बिना द्रव्यगुण रहता नहीं। द्रव्य है तो उसका परिणमन है, अवस्था है, अवस्थाशून्य द्रव्य कैसा? बस इसी आशयसे ध्रुवैकान्तमें और स्याद्वादमें अन्तर आ जाता है। एक ऐसा दर्शन है कि जगतमें ब्रह्म तो है, पर उसका परिणमन कुछ नहीं है। परिणमन जितने होते हैं वे सब प्रकृतिके हैं, मायाके हैं यों समझिये। तो कुछ भी रूपक हुए बिना कुछ भी परिणमन हुए बिना वस्तु क्या है। केवल एक कहने की बात है, कुछ भी हम कह दें। सत् है तो उसका कुछ परिणमन तो होना चाहिए। इस युक्तिसे यदि ब्रह्मका परिणमन मान लिया जाय तो सारा विवाद मिटा, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है और मेरा सुख मेरा आनन्द यह परिणमन है। तब ये तीन बातें ही तो आयीं—शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग।

जब हम वस्तुको कालकी अपेक्षा देखते हैं तो पदार्थ अनन्तपर्यायात्मक हैं और चूँकि हम नहीं जानते किस पर्यायके बाद क्या होता है, पर कालमें तो यह पड़ा हुआ है कि कल कुछ परिणमन होगा। जो होगा हम नहीं जानते। तो इस दृष्टिसे पदार्थ अनन्तपर्यायात्मक हैं और उससे एक पर्यायके बाद दूसरी पर्याय प्रकट होती है इस तरहसे क्रम क्रमसे उस द्रव्यकी पर्यायें प्रकट होती जाती हैं। लेकिन केवल इसे एकान्तरूपसे ही देखें तो फिर व्यवस्था नहीं बन सकती। केवल द्रव्यके कारण उस ही वस्तुकी ओरसे उस वस्तुके ही स्वभावके कारण जो भी परिणमन होंगे वे विभिन्न नहीं हो सकते, लेकिन विभिन्न परिणमन देखे जाते हैं। तो यह निश्चय करना होगा कि प्रत्येक पदार्थ उपाधिका निमित्त पाकर जब जब द्रव्यमें जो परिणमन होते हैं वे परिणमन विभिन्न और विकृत हुआ करते हैं।

अब यहां दो दृष्टियोंका द्वन्द चल बैठा। एक दृष्टिसे तो पदार्थकी पर्यायें पदार्थसे ही प्रकट होती हैं अन्य वस्तुसे नहीं, और एक दृष्टिसे यह बात आयी कि जितने भी ये विभिन्न विकृत परिणमन हैं वे पदार्थका निमित्त पाकर ही हो सकते हैं, परनिमित्त बिना नहीं हो सकते हैं। अब

वन करनेसे जो ध्यान उत्पन्न होता है वह प्रशस्त ध्यान है, इसे शुभोपयोग कहते हैं। शुभोपयोग भी दो प्रकारसे मान लीजिए। एक मदकषायमें रहने वाले अज्ञानीजनोंके द्वारा भी किया गया शुभोपयोग और एक सम्यग्दृष्टि यथार्थ ज्ञानी पुरुषके द्वारा किया गया शुभोपयोग। अज्ञान अवस्थामें जो भी एक मदकषायकी प्रवृत्ति बनती है उस शुभोपयोगमें शुद्ध स्वरूपका लक्ष्य नहीं बना हुआ है। और ज्ञानीजनोंके शुभोपयोगमें शुद्ध सहज आत्मस्वरूप का लक्ष्य बना हुआ है और मुकाबलेतन इस कारण शुभोपयोग ज्ञानीके ही उपयोगको कह लीजिए।

धर्मध्यानकी चर्यामे ध्यानकी प्रशस्तता –हम आपकी दिनचर्यामें जितना भी समय धर्मध्यानमें गुजरता है, मदिर आये, दर्शन किया, स्वाध्याय किया, कुछ सयम व्रत तपस्या किया, गुरुजनोंकी सेवाकी इन सब प्रसगोंमें एक लक्ष्यको न छोड़ा जाय तो उससे बड़ी सिद्धि है और कर्मोंकी निर्जरा चलती रहती है। दर्शन करते हुएमें इस सच्चिदानन्दस्वरूपके हम दर्शन करें, हम मूर्तिमें जिसकी स्थापना की हुई है उसपर दृष्टि दें, दर्शन तो प्रतिमाके कर रहे हैं पर उस दर्शनमें हमारी दृष्टि उस प्रभुपर जाय जिसकी हमने स्थापना की है और उस प्रभुपर दृष्टि जाकर भी उनका रंग रूप शरीर आकार उनके माता पिता आदिपर दृष्टि न जाकर उस आत्माके विकासपर दृष्टि जाय, हम उसके दर्शन कर रहे हैं। उस विकासपर दृष्टि रखते ही तुरन्त चूँकि वह विकास जीवस्वभावके अनुरूप है अत स्वभाव और विकासका अभेद करके एक मात्र चित्प्रकाशकी दृष्टि बन जायगी। उस चित्प्रकाशके दर्शन करने आया हू वह चित्प्रकाश किसी एक व्यक्तिगत नहीं बन पाता, किन्तु वह एक स्वरूप है। जैसे कोई रूप ले लीजिए हरा रूप। तो क्या हरा रूप कहनेसे आपकी दृष्टिमें व्यक्ति नजर आयगा ? हरी हरी ५० चीजें हैं पर हरे रूपमें कोई चीज ग्रहणमें न आयगी। एक स्वरूप ग्रहणमें आयगा। हरा रूप किसी चीजमें बँधकर नहीं रहता, वह तो एक हरा रूप है, स्वरूप है, इस प्रकार चित्प्रकाश किसी एक व्यक्तिमें बँधाने वाली बात नहीं है, किन्तु वह तो एक स्वरूप है, जब प्रभुके दर्शनके समय हमारी चित्प्रकाशपर दृष्टि जायगी तो प्रभुव्यक्ति भी छूट जाता है और एक केवल चित्प्रकाश ग्रहणमें रह जाता है। तो वह ग्रहण अब किसका आश्रय करें, सामान्य हो गया है सो प्रभुका तो आश्रय कर नहीं सकता तब वह निजका आश्रय करेगा। तो यों सही पद्धतिसे प्रभु-दर्शन करने पर अपने दर्शन हो जाते हैं तो ऐसी शुद्ध दृष्टिको रखकर जो हमारी ध्यान चर्चा चले तो वह हमारा प्रशस्त ध्यान है और सही मायनेमें

शुभोपयोग है, इस तरह आशयके तीन प्रकारका वर्णन किया है। अब अशुभोपयोगका वर्णन आगेके श्लोकमें आयगा।

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद् वस्तुविभ्रमात।
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥२७४॥

अशुभोपयोग व अशुद्धध्यानके वर्णनका उपक्रम--जीवोंके पापरूप आशयके कारण मोह, मिथ्यात्व, कषाय और तत्त्वविभ्रमसे अप्रशस्त ध्यान होता है। ये स्वयं पापके आशय हैं। किसी भी अन्य वस्तुको अपनी समझना, किसी अन्य वस्तुरूप अपनेको मानना यह मोह है। इसमें भी पापरूप आशय पड़ा हुआ है। जो अपने घातका कारणभूत है वह सब पापभाव है। मोहसे इस जीवको घात हो ही रहा है। कहाँ तो यह जीव अनन्त चतुष्टयस्वरूप वाला है और कहाँ निगोद कीड़ा आदिक कुयोनियोंमें भ्रमण कर रहा है, यह आत्माका घात ही तो है। मोहसे पापका आशय स्वयं बसा हुआ है। मिथ्यात्व यद्यपि मोहसे अलग नहीं है लेकिन मुकाबिलेतन इसे गृहीत मिथ्यात्वका रूप प्रधानतासे दिया जायगा। तो मोह और मिथ्यात्व ये दो चीजें ठीक बैठ जायेंगी। मोह तो है अगृहीत—मिथ्यात्व होना और मिथ्यात्व है गृहीत मिथ्यात्व होना कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रके आदि प्रति भक्ति होना, उनमें प्रीति होना यह मिथ्यात्व है। उसमें भी पापका आशय बसा हुआ है।

कषायोंकी पापरूपता—कषाय स्वयं पापरूप हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये ही कषायें जीवको कसती हैं अर्थात दुःख देती हैं सो ये भी पापके आशय हैं। क्रोधसे अपने आपकी सुध भी नहीं रहती। क्रोधमें यह जीव अपना और दूसरेका भी बिगाड़ करता है। किसी पर क्रोध कर जाय तो कुवेमें गिरकर अपना भी नाश कर जाय, और नहीं तो इतना ही भाव लेकर कि हम कुवेमें गिरेंगे तो ये गिरफ्तार होंगे, ये जातिसे बहिष्कृत हो जायेंगे, इनको इस तरहसे बरबाद कर दें। क्रोधमें आकर यह अपना भी बिगाड़ कर लेता है और दूसरेका भी बिगाड़ कर लेता है। मान घमड होना यह भी पापका आशय है। यह मानी पुरुष अपने आपमें कुछसे कुछ कल्पनाएँ करके अपना महत्त्व मान रहा है, किन्तु अन्य लोग तो जो सही बात है वैसा ही समझते हैं। तो परको अपना समझना भी मिथ्यात्व है, और वस्तुवोंके सम्बधमें विभ्रम होना, भूल हो जाना, गलत समझ लेना यह भी पापका आशय है।

अशुभोपयोगमें मोह मिथ्यात्व व भ्रमका समावेश--यहाँ तीन बातें बतायी हैं जो कि करीब एकसी हैं। मोह, मिथ्यात्व और वस्तुविभ्रम। इनका

करीब-करीब एक ही मूल होनेपर भी इनमें तीन बातोंकी झलक आती है। मोह तो नाम अगृहीत मिथ्यात्वका है जो एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञीपञ्चेन्द्रिय तक भी पड़ा हुआ है मिथ्यात्वमें प्रधानता लो गृहीत मिथ्यात्वकी। धर्म-भक्तिके नामपर कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुको देव, शास्त्र, गुरु समझकर उनकी भक्ति करके उनका अनुराग रखना, उनका सेवक बनना यह मिथ्यात्वसे समझिए और वस्तुविभ्रम शब्दसे उन दार्शनिकोंका ग्रहण हो जाता है जो वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करने चले हैं पर भ्रम हो गया है और अयथार्थ प्रतिपादन करते हैं। वस्तुके सम्बन्धमें विपरीत जानकारी बनाये रखना सो वस्तुविभ्रम है। ऐसे इन तीनसे और कषायोंसे जो निरन्तर प्रकाशका अशुभध्यान बना रहता है वह है अप्रशस्त ध्यान। इस प्रथम अन्तराधिकारमें तीन प्रकारके उपयोगोंको बताया जा रहा है—शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। यह अशुभोपयोगका कथन है। यह सब अशुभोपयोग है और अशुभका उपयोग है।

क्षीणे रागादि सन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि।
य स्वरूपोपलम्भ स्यात्स शुद्धाख्य प्रकीर्तित ॥२७५॥

शुद्धोपयोगके वर्णनका उपक्रम—अब इसमें शुद्धोपयोगका वर्णन है। रागादिककी सतानके क्षीण हो जानेपर अतरङ्ग आत्माके प्रसन्न होनेसे जो अपने स्वरूपकी उपलब्धि होती है, स्वरूपका आलम्बन होता है वह शुद्ध ध्यान है। स्वरूपकी उपलब्धिका नाम शुद्धोपयोग है। जैसा अपना सहज यथार्थ निरपेक्ष स्वरूप है उसकी प्राप्ति होनेका नाम है शुद्धध्यान। यह शुद्धध्यान कैसे प्रकट होता है उसके उपायका भी इस लक्षणमें वर्णन कर दिया है। रागादिककी सतान क्षीण हों, रागसस्कार दूर हों, इससे अन्तरका आत्मा निर्मल होता है, निर्भार शुद्ध ज्ञानाद्रष्टा होता है। अपनी जो अपने स्वरूपकी प्राप्ति है उसका नाम है शुद्धध्यान, शुद्धोपयोग। यह तीसरे नम्बरका उपयोग है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। ऐसा क्रम रखनेका यह प्रयोजन है कि यह जीव अनादिसे अशुभोपयोगको बर्तता चला आ रहा है, और अशुभोपयोगमें जीवने अनन्तकाल व्यतीत कर दिया। अब अशुभोपयोगसे हटकर जब यह कुछ विवेकमें आता है तो किसीके शुद्धोपयोग लक्ष्यमें रहकर शुभोपयोग होता है, किसीको शुद्धोपयोग लक्ष्यमें न भी हो ऐसी भी मंदकषायके कारण शुभोपयोग हो जाता है, किन्तु शुद्धोपयोग जिसके नहीं प्रकट हुआ है उससे पहिले शुभोपयोग होता ही है। सम्यक्त्व जब उत्पन्न होता है तो अशुभोपयोगके बाद उत्पन्न नहीं होता। अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगमें

रहता है तब उसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यद्यपि वह अशुभोपयोग मिथ्यात्व अवस्थामें है और मंदकषायका फल है। तीव्रकषायके बाद सम्यक्त्व कहाँ जगता है। मिथ्यात्व वह भी है, अनन्तानुबंधीकषाय भी है और मंद हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न होनेकी पात्रता आती है। तो अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगमें और शुभोपयोगसे शुद्धोपयोगमें यह जीव आता है। शुद्धका उपयोग, आनसिक शुद्धोपयोग, परिपूर्ण शुद्धोपयोग। शुद्धका उपयोग तो सम्यक्त्व जगते ही शुरू हो जाता है जिसे शुद्ध सहजतत्त्वका श्रद्धान हुआ है उसका उपयोग बना रहे, जानन बना रहे यही है शुद्धका उपयोग। और इस शुद्धके उपयोगसे जो निर्मलता बनती है, रागादिकदोष दूर होते हैं तो इस शुद्धका उपयोग बने रहनेसे ऐसा आत्मबल प्रकट होता है कि सब रागादिक भाव दूर हो जाते हैं। जब वीतराग अवस्था प्रकट होती है वह है परिपूर्ण शुद्धोपयोग। और शुद्धका उपयोग जबसे प्रारम्भ होता है तबसे लेकर वीतराग बननेसे पहिले तक उसके आनशिक शुद्धोपयोग है। तो यों शुद्धोपयोग चतुर्थगुणस्थानसे प्रारम्भ होकर अन्तिम तक बना रहता है और यही जानकर उपयोग शुद्धपर लगायें, शुद्धोपयोग बना रहे तो ऐसा शुद्धोपयोग सिद्ध जीवोंके भी सिद्ध होता है। शुद्धोपयोग है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये ५ भेद कहे गए हैं। तो केवलज्ञान भी उपयोग है। वह केवलज्ञान कैसा उपयोग है—अशुद्ध या शुद्ध? अशुद्ध तो कहा नहीं जा सकता। शुद्ध है तो वही शुद्ध हुआ। ऐसा यह शुद्धोपयोग एक शुद्ध आशयका है, शुद्ध अन्तःशक्तिका विकासरूप है। इस तरह तीन उपयोगोंका लक्षण इन तीन श्लोकोंमें बता दिया गया है।

शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसंभवां।
निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् ॥२७६॥

शुभध्यानका फल—शुभध्यानसे क्या फल मिलता है इसका इसमें प्रतिपादन है। शुभध्यानके फलमें यह मनुष्य स्वर्गकी लक्ष्मीको स्वर्गमें भोगता है और फिर क्रमसे जो परमपद है, निर्वाणपद है उसको प्राप्त करता है। स्वर्गोंमें दिव्य वैक्रियक शरीर होता है, हजारों वर्षोंमें भूख प्यास लगती है, कई पखवारोंमें श्वांस लेनेका कष्ट करना होता है। जहाँ छोटेसे छोटे भी देवके कमसे कम ३२ देवांगनाएँ कही गयी हैं। कोई देव कुमारवत भी रहते हैं—जैसे लौकान्तिक देव अथवा स्वर्गोंसे ऊपरके देव, पर सबके दिव्य वैक्रियक शरीर हैं। जब उनको जिस चीजकी इच्छा होती है उसकी शीघ्र पूर्ति हो जाती है ऐसा वहाँ पुण्यका वैभव है। ऐसे उपदेशको प्राप्त

करना यह शुभध्यानका फल है। पापके फलमें स्वर्गोंमें जन्म नहीं होता। दया, परोपकार दान आदिक शुभ ध्यान रहें तो शुभध्यानके फलमें यह स्वर्गके वैभवकी प्राप्ति होती है। और यह शुभध्यान सांसारिक उत्तम सुख को भी प्राप्त कराता है और साथ ही ऐसी परम्परा बनाता है कि वह निर्वाणपद भी प्राप्त कर ले। तो शुभोपयोगका फल है उत्तम विभूति प्राप्त करना और परम्परा निर्वाणपद प्राप्त करना।

शुभध्यानके फलमें मोहित न होनेका अनुरोध - शुभध्यानके फलकी बात सुनकर तो सद्ध्येयकी इतिश्री यहीं तक न बनावें क्योंकि देव भी कोई हो जाय तो आखिर वे संसारी प्राणी ही तो हैं। लम्बी आयु पायी है, दिव्य-शरीर पाया है, विक्रिया ऋद्धि भी कुछ अद्भुत है, इतनी ही तो विशेषता है साधारणजनोंकी अपेक्षा लेकिन ऐसे सुखमें रहते हुए भी वे अपनी कल्पनाएँ बनाकर किसी न किसी प्रकारके दुःखका अनुभव कर लिया करते हैं। जितने बड़े पुरुष होते हैं। यहाँ भी आप देख लो सब कुछ साधन हैं, खाने पीनेकी तकलीफ नहीं, किसी आरामसाधनकी कमी नहीं, लेकिन कल्पनाएँ ऐसी बनाते रहते हैं कि परिवारमें उनकी किसीसे नहीं बनती, इच्छायें बहुत बढ़ा लेते हैं, तृष्णायें बहुत बढ़ जाती हैं, तो स्वर्गके देव तो यहाँके धनिक मनुष्योंसे उत्कृष्ट बुद्धि वाले हैं, वे भी अपनी कल्पनाएँ बनाकर दुःख मोल ले लिया करते हैं। अपनेसे अधिक ऐश्वर्य वाले देवोंको देखकर चित्त में जलना, दूसरे किसी देव और इन्द्रकी आज्ञा माननेपर अपने आपमें दुःखी होना, अथवा अपनेको बड़ा देव समझकर छोटे देवोंको आज्ञा देने की तकलीफ करना ये सब वेदनाएँ उनके भी चलती रहती हैं। और, जब आयु पूर्ण होती है तो वहाँसे मरकर नीचे ही आना पड़ता है, देव लोग मरकर साधारण वनस्पति नहीं होते, एकेन्द्रिय होंगे तो पृथ्वी है, प्रत्येक वनस्पति है ऐसी योनियोंमें जन्म लेंगे। दो, तीन, और चारइन्द्रिय तो होते ही नहीं हैं। पंचइन्द्रियमें संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तक बनेंगे। तो आखिर यहाँ भी बनें तो इस भूलोकमें ही तो आकर बने। उनकी नियमसे अधोगति ही होती है। देवगतिसे मरण करके देव न तो पुनः देव होते हैं, न नारकी बनते हैं, न दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय बनते हैं, तो उसका ऐसा नियम है। अगर अधिक तृष्णा ईर्ष्या करें तो एकेन्द्रिय भी बन सकते हैं। तो कुछ भी बन जायें, आखिर स्वर्गसे नीचे आकर ही तो जन्म लेना पड़ा। तो उन देवताओंका भी कोई सुखिया जीवन नहीं है, ऐसे स्वर्गकी हम विभूति पायें, देव बनें, इन्द्र बनें, ऐसी कामना न करके भावना यह होनी चाहिए कि मेरेमें ऐसी विशुद्धि जगे कि

मैं अपने सहज शाश्वतस्वरूपका दर्शन करता रहूं।

निज सहजस्वरूपके दर्शनसे संकटोंका विनाश—ज्ञानी मनुष्योंको चाहे बाहरमें कितनी भी विपदायें लगी हों, दरिद्रता हो, कोई सताता हो, कुछ भी स्थिति हो लेकिन वह अपने आपके अन्तरमें अपने सहजस्वरूपपर दृष्टि देता है तो वहाँ सारे संकट समाप्त हो जाते हैं। कोई संकट ही नहीं। वह बाहरी बातोंको यों समझता है कि ये भी पदार्थ हैं, और ऐसे परिणम रहे हैं। जैसे जो लोग कुछ कुशल होते हैं वे दूसरोंकी गाली सुनकर क्षुब्ध नहीं होते। और, उनके विषयमें कवि लोग यों कहते हैं कि गाली देने वालेने तो गाली दी, पर लेने वाला यदि गाली न ले तो गाली उसे कैसे लगेगी। तो इसी तरह परपदार्थोंके ये सब परिणमन होते हैं जिन्हें लोग प्रतिकूल परिणमन भी कहते हैं और दूसरे मनुष्यकषायके वशीभूत होकर मुझको लक्ष्यमें लेकर प्रतिकूल बर्ताव करें लेकिन मैं उन परिणमनोंको न ग्रहण करूँ, इन परिणमनोंने मेरेमें कुछ बिगाड़ किया है ऐसा मानें क्योंकि आखिर बात तो है ऐसी ही ना। तो फिर यह जीव निर्मोह है, शुद्ध है, पवित्र है, उसे क्षोभका क्या काम है। क्षोभ तब होता है जब हम इन बाह्य पदार्थोंके परिणमनको ग्रहण करते हैं। हम ग्रहण न करें, जानते जायें कि ऐसा ठीक है, मनमें हँस जायें, संसार मायारूप है।

अन्यके दुर्वचन व दुर्व्यवहार होनेपर भी क्षोभ न आनेका विवेक—हमने जो कुछ किया है अपने परिणामोंके अनुसार किया है, मुझे क्या है, और मुझे तो कोई लोग जानते तक ही नहीं हैं। लोग अधिकसे अधिक इस देह पर दृष्टि लगाते हैं और इसे ही निरखकर यह फलाने हैं इस प्रकारका भाव बनाते हैं। मेरा न किसीसे परिचय है और न कोई मुझको लक्ष्यमें लेकर कुछ व्यवहार करता है। जिसे लक्ष्यमें लेकर व्यवहार करे वह चिढ़े। जैसे किसी सभामें कोई आदमी गाली दे और समझ जाय कि यह इसपर आक्षेप कर रहा है और वह उसकी ओर देखने लगे, लेकिन यदि वह कुछ विवेकी है तो अपनी मुद्रा ऐसी दिखायेगा कि जिससे स्पष्ट हो कि यह मुझे गाली नहीं दे रहा, जो चोर होगा उसे गाली दे रहा है, और वह कह भी उठता है कि जो चोर होगा वह चिढ़े। खुदको बचाकर रखता है। तो ऐसे ही ये परपदार्थोंके परिणमन हैं, कोई मुझे बुरा कहता है, निन्दा करता है तो यों समझना चाहिए कि यह जिसे कहना हो वह चिढ़े, मुझे तो कहा ही नहीं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू, इस चैतन्यस्वभावको तो यह गाली नहीं दे रहा, इस चैतन्यस्वभावकी तो यह निन्दा नहीं कर रहा। जिसकी निन्दा करता हो वह चिढ़े। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूं, एक परमपदार्थ हूं।

मुझे यह कुछ नहीं कह रहा, यह ज्ञानीका चिन्तन है। और उस ज्ञानीकी जैसी उदारता है कि यों समझिये—ऐसी ही मेरी सहज वृत्ति है। जैसे आप लोग कहीं चले जा रहे हों और किसी पागलने आपको गाली दे डाला तब तो आप कुछ भी बुरा नहीं मानते हैं, सुन लेते हैं, और कोई कोई तो प्रसन्न होते हैं। तो जैसे पागलके द्वारा दी जाने वाली गाली और निन्दा से मनुष्योंको क्षोभ उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वे समझते हैं कि यह पागल है, अज्ञानी है, दुःखी है, स्वयं अपने काबूमें नहीं है, इसका क्या बुरा मानना। ऐसे ही ज्ञानी जीव जगतके जीवोंकी चेष्टाको निरखकर कभी यों भी सोच सकते हैं कि ये तो अज्ञानके वश हैं अथवा मोहमदसे मलिन हो रहे हैं, इन्हें अपने आपकी सुध नहीं है इसलिए ऐसी चेष्टायें करते हैं, ऐसा जानकर उनकी चेष्टाका क्या बुरा मानना। जो कोई भी निन्दा कर रहा है वह या तो अज्ञानी होगा या ज्ञानी। तो जो ज्ञानी होगा वह तो हमें सता नहीं सकता, हमारी निन्दा कर नहीं सकता। हाँ दोष हममें हो तो हमारे सुधारके लिए वह भी हमें कह सकता है तो यह तो उपकार ही है, इसका क्या बुरा मानना। ज्ञानी तो कभी निन्दा नहीं करता, अज्ञानी निन्दा करे तो उसका बुरा क्या मानना? यों ज्ञानी पुरुष दूसरेके विरुद्ध परिणमनसे अपने आपमें क्षोभ नहीं लाता है। यह उसकी बड़ी विभूति है।

सांसारिक मायाकी उपेक्षा करके निज वैभवके निकट आनेकी प्रेरणा— भैया! अपना जीवन निष्पाप यदि व्यतीत हो जाय तो इसे बहुत बड़ी विभूति समझिये। आखिर जो कुछ भी मिला है सब कुछ एक दिन छोड़ कर जाना होगा। अब जैसा यहाँ जीवन बनाया, जैसे यहाँ संस्कार बनाया, जैसा यहाँ बंध किया उसके अनुसार ही वह भोगेगा। तो जीवन अपना निष्पाप व्यतीत हो, सत्य व्यतीत हो। सत्य पुरुषमें एक बल रहता है। निष्पाप पुरुषमें आत्मबल प्रकट होता है। पापी पुरुष शरीरके बलिष्ट भी हों तो भी उनका आत्मा कायर हो जाता है, अतएव वह हर बातमें असफल रहा करता है। तो अन्तर्दृष्टिमें समस्त जगत में और कोई विभूति नहीं है। ये स्वर्गोंके सुख, स्वर्गोंकी दिव्यविभूति इसके प्रकरणको सुनकर अपने आपमें यह आस्था न बनायें कि यह बहुत महत्त्व की चीज है और ऐसी अवस्था हमें मिले। इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है, ऐसा रंच भी न सोच। ये भी बड़े पुरुषोंकी तरह बहुत दुःखी रहते हैं। सांसारिक सुखोंका स्वरूप ही ऐसा है कि जिन्हें जितना अधिक सुख प्राप्त हुआ वे उतनी ही अधिक कल्पनाएँ करके अपने आपको दुःखी कर डालते हैं। मन ही तो है। सुखमें रहकर तो इसे दसों ऐब सूझते हैं,

अनेक कल्पनाएँ इसमें जगती हैं। उन कल्पनाओंका ही सारा दुःख है। कोई गरीब हुआ तो वह उससे अधिक धनिकोंको देखकर दुःखी होता है। तो यों शुभोपयोगको पार करके शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होती है और शुद्धोपयोग में ही कल्याणमार्ग है, इस कारण शुभोपयोगका लक्ष्य करें, शुभोपयोगके फल स्वर्गादिक वैभव हैं ऐसा सुनकर शुभोपयोगमें ही उद्देश्य न बनायें और स्वर्गादिक विभूतियोंमें अपनी रुचि न जगायें। इस प्रकार यहाँ तीन उपयोगोंका वर्णन किया गया है, और शुभोपयोगके फलसे क्या मिलता है इसका इस छंदमें वर्णन किया है।

दुर्ध्यानाद्दुर्गतेर्बीजं जायते कर्म देहिनाम्।
क्षीयते यन्न कष्टेन महतापि कथंचन ॥२७७॥

दुर्ध्यानका परिणाम—खोटे ध्यानसे जीवोंकी दुर्गति होती है इसके कारणभूत अशुभकर्मका बंध होता है, जिन अशुभ कर्मोंका क्षय बड़े प्रयत्नों से भी होना कठिन है। इस प्रकरणमें तीन प्रकारके उपयोग बताये गए थे—शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग। इन तीनोंका लक्षण कहा है। अब यह बतला रहे हैं कि शुभोपयोगका क्या फल है अशुभोपयोगका क्या फल है और शुद्धोपयोगका क्या फल है। अशुभोपयोग अथवा दुर्ध्यान, पापका आशय ये सब एकार्थक हैं। अशुभोपयोगसे ऐसे कर्मोंका बन्ध होता है जो जीवकी दुर्गतिके कारण होते हैं। असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय तक तो दुर्ध्यान ही चला करता है। वहा तक तो श्रद्धानकी योग्यता नहीं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन चार संज्ञाओंसे पीड़ित आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी इसमें सम्भव है। यह स्वयं दुर्गतिरूप है, और इस ध्यानके प्रभावसे ऐसे ही कर्मोंका बन्ध होता है कि ये जीव आगे भी ऐसी ही दुर्गतियोंके क्लेश पाते रहें। तो अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है। जिस किसी भी अवस्थामें यह जाना हो, चाहे सम्यक्त्व भी न उत्पन्न हुआ हो फिर भी मंदकषायोंका परिणाम और व्रत तपश्चरण संयमकी ओरकी कुछ भी दृष्टि जैसी कि इसकी कल्पनामें भी आयी हो वह सब ध्यान इस अशुभोपयोगसे तो अच्छा ही है। हम कुछ ध्यानके लिए भी यत्न करें और साथ ही साथ सम्यग्ज्ञानका भी अभ्यास रखें तो दुर्गतियोंसे छुटकारा तो बन जायगा। स्थूलदृष्टिसे खास बात एक यह है कि जिस जीवके चित्तमें दया नहीं उत्पन्न है उससे वैसे ही अशुभ काम बनते हैं जिनसे दुर्गति सम्भव है, और जिस जीवके चित्तमें दया है उस दयालु पुरुषकी ऐसी वृत्तियां होती हैं ऐसा परिणाम बनता है कि जिससे लौकिक दृष्टिसे जो सुगति मानी जाती है वह सुगम है। केवल शुभोपयोगसे क्या होता है? इसका वर्णन किया

है। इस श्लोकमें अशुभोपयोगका क्या फल है उसका वर्णन चल रहा है। अशुभोपयोगका यह सब फल है जो जगतमें दिख रहा है।

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम्।
फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् ॥२७८॥

शुद्धोपयोगके फलका वर्णन—शुभोपयोगका फल तो स्वर्ग वैभव बताया गया था और अशुभोपयोगका फल सासारिक दुर्गतियोंका भोगना बताया गया था। इस श्लोकमें शुद्धोपयोगका फल बतला रहे हैं। शुद्धोपयोगका फल है ज्ञानसाम्राज्य। साम्राज्य भी एक ज्ञान है और शुद्ध ज्ञान तो आत्मा का साम्राज्य है ही, किन्तु जितने भी प्रकारके वैभव माने जाते हैं लोकमें वे सब ज्ञानके ही तो परिणमन हैं, और जो कुछ भी दुःख माने जाते हैं वह भी ज्ञानका विपरिणमन है। बाह्य चीजोंसे न तो सुख होता और न दुःख होता, किन्तु ज्ञानमें ही ऐसी बात आये जो मोह और रागकी ओर लगानेका कारण बने तो उससे क्लेश होता है। और, ज्ञानमें ऐसी पद्धति बने कि जिससे वैराग्यकी ओर झुकाव बने तो उससे आनन्द जगता है। बाहरमें कहा सुख है और कहा दुःख है? ये बाहरी वैभव पुण्यपापके ठाठ किसी दिन तो ये सबके सब एकदम छोड़ देने पड़ेंगे। आये हैं तो क्या और चले जाये तो क्या, ये बाहरी वस्तुवोंके परिणमन हैं। यह निमित्त-नैमित्तिक भावोंकी बात इसमें हमारी वर्तमान बुद्धि या वर्तमान पुरुषार्थ क्या मदद करेगा, किन्तु वर्तमान बुद्धि, वर्तमान पुरुषार्थ एक आत्मतत्त्वके, अन्तस्तत्त्वके पोषणमें लगे तो ये जरूर काम करेंगे, क्योंकि यहा निजका ही पुरुषार्थ है और निजके लिए किया जा रहा है।

सर्वस्थितियोंमें ज्ञानके साम्राज्यकी झलक—सर्वत्र ज्ञान ज्ञानका ही साम्राज्य है सब जीवोंमें। जहा कोई क्लेश होता है वहा भी समझिये कि ज्ञानकी कलाका प्रसाद है और जहाँ सुख होता है वह भी ज्ञानकी कलाका प्रसाद है, जहा आनन्द होता है वह भी ज्ञानकी कलाका प्रसाद है। खूब सुख साधनोंमें कोई हो और कल्पनाएँ मोह रागसे सम्बधित उठा लें तो सुख साधनोंमें रहकर भी वह क्लेश पाता है, और कोई कितना ही दीन हीन गरीब की परिस्थितिमें हो, जिसे लोकमें असहाय, बेचारा कहते हैं, कोई पूछने वाला भी नहीं है लेकिन इसकी ज्ञानपद्धति अपने आत्माकी ओर झुके तो इसको आनन्द है। एक दुनियावी हिसाबसे सबसे अधिक गरीब परिस्थिति तो साधुवोंकी होती है। दि० मुनिजनोंके पास न कपड़े हैं, न पैसा है, न नौकर हैं, न कोई उनके मनको रमाने वाले परिवारके लोग हैं, वनमें भी रहते हैं, देखने वाले लोग तो ऐसे पुरुषोंको देखकर दया कर बैठेंगे।

कितनी कठिन परिस्थिति है लेकिन लोकमे पूज्य वही साधु माने जा रहे हैं यह किस बातका अन्तर है ? ज्ञानकलाका अन्तर सबसे, विविक्त मात्र मात्र ही जिनका परिग्रह रह गया है ऐसा होकर भी उनका ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर झुकता है। इसका यह प्रसाद है कि बड़े-बड़े राजा महाराजा इन्द्र भी उनके चरणोंमें नतमस्तक हो जाते हैं। तो सब कुछ ज्ञान का ही साम्राज्य है।

शुद्धोपयोगमें परमविशुद्ध ज्ञानसाम्राज्य—शुद्धोपयोगमें तो ज्ञानका अद्भुत साम्राज्य प्रकट हो जाता है। जहा सर्वप्रकारके क्लेशोंसे मुक्ति है—क्लेश है वहा जहां मोह और राग है, शुद्धोपयोगमें मोह रागका अभाव है उस अपने आपमें दृष्टि गड़ाकर निरखें, यह तो जो है सो है, केवल है, इसका कहीं कुछ नहीं है, यह अपने आपमें मग्न हो, अपने आपकी ओर झुके, इसमें समस्त आनन्द है, दुःखका कोई काम ही नहीं है इस आत्मा में। लेकिन जो मोहीजन हैं, रागद्वेषकी वृत्ति जिनकी है वे इस आत्मस्वभावको छूते नहीं हैं। इस ओर वे दृष्टि रखते नहीं हैं अतएव बाहर ही बाहर भ्रमण कर क्लेश पाते रहते हैं। शुद्धोपयोगका फल तो ज्ञानसाम्राज्य है और ज्ञानसाम्राज्यका फल शुद्धोपयोग है, इस स्थितिमें कोई भी क्लेश इस जीवको नहीं लगा हुआ है। मोही जीव व्यर्थ ही अपने आपको परेशान किए हुए हैं। और उसके फलमें परेशानी ही पाते रहते हैं। किस-किसके रागमे क्या नफा पाना ? लाभ तो जाने दो, रागके फलमें नियमसे क्लेश है। रागके समय राग सुहावना लगता है, मन भी खुश होता है और यह रागी पुरुष अपना अधिकार समझता है। मैं जैसा चाहू वैसा हो जायगा, ऐसी मनमें कल्पनाएँ बनाता है इसके फलमें नियमसे वह क्लेश पायगा। रागके फलमें किसीको आनन्द हो ही नहीं सकता। ये सब राग छोड़ने योग्य हैं। रागभाव मुझमें उत्पन्न होते हैं यह एक विपदा है। किसी परिजन या इष्ट चीजका बिछुड़ना यह विपदा नहीं है। यह तो दुनियावी काम है, परिणमन है, पदार्थ हैं, ऐसा हो रहा है, पर किसी परवस्तुमें जो रागका लगाव है, मोहका परिणाम है यह अपने आपपर विपदा है। इस विपदासे कोई छुटकारा पा सके तो वह सच्चा विवेकी पुरुष है, शुद्धोपयोग का फल ज्ञानसाम्राज्य है जो स्वभावसे उत्पन्न होता है। कहीं ईंट रोड़ा जोड़कर यह ज्ञानसाम्राज्य नहीं बनाया जाता, बल्कि वे परभावरूप ईंट रोड़ा हटाने से वह ज्ञानसाम्राज्य प्रकट होता है। तप, उपाधि, परतत्त्व इनकी दृष्टि हटाने से अपने आपमें स्वयं ज्ञान प्रकट होता है। यह ज्ञान साम्राज्य हमारे स्वभावकी जो उत्तम आनन्द है वह मुझमें ही मौजूद है,

लेकिन यह इतना प्रमादी है कि अपने उस शाश्वत अविनाशी परमतत्त्व आनन्दस्वरूपका ग्रहण नहीं करना चाहता।

शुद्धोपयोगके पौरुषमें प्रमाद न करनेका अनुरोध—कहानियोंमें बताते हैं कि दो अत्यन्त आलसी थे। किसी जामुनके पेड़के नीचे बैठे हुए थे। एक बैठा हुआ पुरुष किसी रास्तागीरसे कहता है कि भाई हमें भूख लगी है ये आसपास जामुन बिखरे पड़े हैं वे बीनकर मुझे दे दो तो मैं उन्हें खाकर अपनी भूख मिटा लूँ। एकके ओंठपर एक जामुन गिर पड़ा था—वह कहता है भाई हमारे ओंठपरसे यह जामुन मुखमें डाल दो तो इसे हम खा लें। यह आलस्यके होड़की बात बतायी जा रही है। अतिनिकट अतिसुगम कार्यको भी न करनेका भाव हो, उसे भी न कर सके उसे कहते हैं प्रमाद। तो अब सोचिये कि हमारा वह आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हमारे कितना निकट है, और निकट क्या, हम ही खुद हैं, और पानेकी भी सुगमता कितनी है कि जरा दृष्टि अपनी ओर मोड़ा कि उसे पा लिया, इतना सुगम अपना आनन्दस्वरूप अतस्तत्त्व मौजूद है फिर भी उसे न ग्रहण करना चाहें तो यह प्रमाद ही तो है। यह ज्ञानसाम्राज्य स्वभावसे उत्पन्न है और अविनाशी है। सब वैभव मिलता है, बिछुड़ता है, किन्तु ज्ञानसाम्राज्य ऐसा है कि एक बार मिल जानेपर बिछुड़नेका काम नहीं। एकबार शुद्ध सिद्ध अवस्था होनेपर फिर यह जीव कभी मलिन नहीं होता। तो ज्ञानसाम्राज्य अविनाशी है। यों शुद्धोपयोगसे अविनाशी आनन्दकी प्राप्ति बताई गई है।

इति सक्षेपतो ध्यानलक्षण समुदाहृतम्।
बन्धमोक्षफलोपेतं संक्षेपरुचिरक्षकम् ॥२७९॥

इस प्रसंगमें यहाँ तक सक्षेपसे ध्यानका लक्षण कहा गया है। यह सब वर्णन ध्यानोंके फलोंका सकेत करता है। शुभोपयोग व अशुभोपयोगरूप ध्यान तो बन्ध फलको देता है क्योंकि ये दोनों उपयोग सहज शुद्ध निरञ्जन अन्तस्तत्त्वके उपयोगको नहीं कर रहे हैं किन्तु किसी विकल्पको कर रहे हैं उनमें इतना तो अन्तर तो है कि शुभोपयोगसे शुभबन्ध होता है और अशुभोपयोगसे अशुभबन्ध होता है, किन्तु बन्ध तो है ही वह सब। यह सब विवरण सक्षेप रुचिसे तत्त्वको जिज्ञासुवोंके चित्तको प्रमुदित करने वाला है। इस मर्मके ज्ञानसे भव्यजन कल्याणमार्ग पाते हैं। शुभध्यानसे तो पुण्यबध होता, अशुभध्यानसे पापबध होता और शुद्धध्यानसे पापपुण्यरूपबधका विनाश करके मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह वर्णन किया गया है।

अविद्याविक्रान्तैश्चपलचरितैर्दुर्नयशतै –
र्जगल्लुप्तालोकं कृतमतिघनध्वान्तनिचितम् ।
त्वयोच्छेद्याशेषं परमततमोज्ञातनिलयम् ।
प्रणीत भव्याना शिवपदमयानन्दनिलयम् ।।२८०।।

परमोपकारी देवगुरुस्मारक सत्शास्त्रोंके अध्ययनका अनुरोध—शास्त्र उन्हें कहते हैं जो हितका उपदेश करें। जो हितका शासन करे उसका नाम शास्त्र है। इन शास्त्रोंसे हमें ज्ञानप्रकाश मिलता है। हम अपने हित अहित का निर्णय करते हैं, अहितका त्याग करते हैं, हितके ग्रहणका यत्न करते हैं। शास्त्रोंका हम आपपर बहुत अधिक उपकार है। इन शास्त्रोंके तत्त्वोंमें हमें गुरुराजके भी दर्शन होते हैं। जो हम शास्त्रोंसे तत्त्व सीखते हैं उन शास्त्रोंके रचने वाले कैसे थे, क्या होंगे, ये सब अपने आपमें कल्पनाएँ दौड़ जाती हैं। और उन्होंने अपने उपयोगके लिए और परके उपयोगके लिए जो एक महान् ग्रन्थनिर्माणका कार्य किया था उसका ही तो यह फल है कि हम आप लोग इन संसार सकटोंके विनाशके लिए धर्मध्यानमें लग रहे हैं। तो जब उन गुरुदेवके स्वरूपका अन्तरङ्ग चित्तमें आभास होता है तो उन गुरुवोंके प्रति भी भक्ति उमड़ती है और ये सब शास्त्र, ये सब उपदेश मूलमें जिस परम्परासे आकर मिले हैं वे हैं अरहंतदेव। तो इसमें देवभक्ति उत्पन्न होती है। शास्त्रभक्तिमें देव, शास्त्र, गुरु तीनोंकी भक्तिका प्रयोजन साधा जा सकता है। शास्त्रोंसे हम आपका बहुत हित है। लेकिन शास्त्रके नामपर ऐसे भी पुरुषोंने शास्त्र रच डाला है जिनपर अविद्याका विक्रम था, अविद्याने जिसे घेर लिया अर्थात् ज्ञानशून्य हैं और साथ ही चपल उनका चारित्र है और चारित्रशून्य हैं ऐसे लोगोंने सैकड़ों खोटे नयों में आकर इस जगतको प्रकाशहीन बना दिया है। ऐसी भी स्थितियां बहुत-सी हैं। अविद्याके कारण विकाररूप बन बनकर वस्तुके स्वरूपका निश्चय न होनेसे तथा भ्रम होनेसे भ्रान्त नाना प्रकारका आचरण करने वाले ऐसे अनेक मिथ्यादृष्टि पुरुषोंने एकान्तरूपी सैकड़ों दुर्नयोंसे जगतको प्रकाशरहित कर दिया है अर्थात् हितके मार्गसे भ्रष्ट कर दिया है। इस कारण हे ज्ञानी आत्मन! तू एकान्तरूप परमतोंको त्यागकर मोक्षरूपी जो अतुल आनन्द है उसको प्राप्त करनेका ज्ञान कर। अर्थात् दुर्नयोंसे हटकर सुनयों का आश्रय करके प्रमाणभूत निज आत्मगृहका आलम्बन कर।

ध्यानसिद्धिके लिये यथार्थज्ञानमार्गमें लगनेकी आवश्यकता—ध्यान उसके बनता है जिसके सम्यग्ज्ञान हो। जिसका ज्ञान ही विभ्रमरूप है वह ध्यान किसका करेगा? ध्यानोंमें ध्यान वही है जो परवस्तुवोंके मोहसे हटाकर अपने

आपके शुद्धस्वरूपमें विश्राम करा दे। जब ऐसा ध्यान बन सकता है जब हम अपनी सही जानकारी रखें। हम जगतके पदार्थोंको सुखदायी मानें, धन सम्पदाको अपना प्राण मानें और इनके सचयके लिए तृष्णामें पग-पग कर अपने जीवन को लगा दें तो ऐसे जीवनमें ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। हे आत्मन्! अपने आपपर दया तो कर। अपने आपको संकटोंसे बचाना है ना तो सकटरहित जो ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि तो बना। उसका ज्ञानसाम्राज्य इतना विशाल है, इस ज्ञानसाम्राज्यका इतना फैलाव है कि किसीकी गति तीन लोकसे बाहर नहीं है, किन्तु ज्ञानसाम्राज्यकी गति तीन लोकसे बाहर भी है, अर्थात् ज्ञान लोकाकाशको भी जानता है। जो भी सत् पदार्थ ज्ञानसाम्राज्यसे बाहर नहीं हो सकते। इतना विशाल हैं वे ज्ञानसाम्राज्यका वैभव मुझमें है और फिर हम इन जगतके विनाशीक पौद्गलिक टुकड़ोंके लिए तृष्णा करें, इनमें अपनी दृष्टि छिपायें, यह अपने आपके प्रभुपर कितना महान् अनर्थ किया जा रहा है, ऐसा किसी क्षण तो अपने आपमें विचार करें। जगतके जीव जिस प्रकार चलते हैं उनके चरणोंको देखकर उनके समतियोंको निरखकर हम अपने आपमें कुछ निर्णय बनायें तो यह तो मूढ़ता भरा निर्णय है। जैसे कोई किसीको मूर्खोंका बादशाह कह दे और वह खुश हो, सही कहा ना, मूर्खोंका बादशाह मायने मूर्खोंमें महामूर्ख। तो इसी तरह मूढ़ोंकी, मोहियोंकी, जगतके साधारण जीवोंकी सम्पत्तिको सुनकर उनके चरणोंको निरखकर हम अपने आपके किसी कर्तव्यका निर्णय बनायें तो यह बात कहनी होगी कि हमने मूढ़ोंकी बादशाही ग्रहण करली है। हमें मोही जीवोंकी तरह ससारमें घुल मलकर रहना है अथवा हमें ससारके सकटोंसे छुटकारा पाना है। यदि ससारके संकटोंसे छुटकारा पानेकी मनमें है तो इन सबसे अपनेको विरक्त निरखना होगा। मैं सबसे न्यारा केवल ज्योतिस्वरूपमात्र हू, ऐसे ज्ञानस्वरूप अपने आपके निरखनेमें शान्तिका अभ्युदय होगा। मोहमें, कुज्ञानमें हम आपको शान्तिका मार्ग नहीं मिल सकता। एकाकी विद्वानोंने सर्वथा एकान्त रूपकुनयको ग्रहण किया और उस कुनयको लेकर तत्त्वका प्रतिपादन किया। उसको सुनकर जगतके जीव मिथ्यामार्गमें प्रवृत्त होते हैं। ज्ञानी पुरुषोंको चाहिए कि स्याद्वाद पद्धतिसे तत्त्वज्ञान बनाकर यथार्थमार्गमें लगें।

अनुभवसाधक ज्ञानके साधनभूत स्याद्वादके अभ्यासके कर्तव्यका कथन—

देखिए तत्त्व जो है सो ही है। जो तत्त्वस्वरूप है वह न एकान्तसे जाना है और न उसका यथार्थ प्रकाश स्याद्वादसे होता है। वह तो अनुभवकी वस्तु है, पर उस अनुभवनीय वस्तुके निकट हमें कोई ज्ञान पहुचा सके उस

ज्ञानका उदय स्याद्वादसे प्रकट होता है। कुनयसे या एकान्तसे वह प्रकट नहीं होता। जैसे किसी पुरुषको किसी बड़ी विभूतिमें रुचि है तो उस बड़ी विभूतिकी रुचिके पीछे १०-२० आदमियोंकी यहाँ वहाँकी बातोंमें अपने चित्तको नहीं उलझाता, किसी बातमें हठ नहीं करता, यों समझिये तटस्थ रहता है, सबकी बात सुनता है, किसीका विरोध नहीं करता है और बात सुनकर अपने ही लक्ष्यकी पूर्ति रखता है, यों ही समझिये—जो अन्तस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानी सत पुरुष हैं चूँकि उन्हें इस आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वसे रुचि जगी है तो इस लक्ष्यकी धुनमें रहकर वह किसी भी पुरुषके एकान्तमें अपना चित्त नहीं देता है। किसी भी धर्मका, किसी भी मंतव्यका हठ नहीं करता है और जो-जो कुछ भी सुनता है उन सबको सुनकर उपयोग ऐसा बनाता है जिससे अपने लक्ष्यमें ही वृद्धि हो। तो समझ लीजिए कि स्याद्वाद हमें वहाँ तक उपकारी है जहाँ तक हम अनुभवमें प्रवेश नहीं करते। अनुभवमें प्रवेश करनेके बाद स्याद्वादका भी विकल्प नहीं रहता, और एकान्तके विकल्पसे तो अनुभवकी दिशामें पहुंच भी नहीं पाते। पक्ष और हठ ये नामसे ही बुरे हैं। किसी भी तत्त्वकी ओर, किसी भी निरूपण की ओर हठ हो जाय, विकल्प हो जाय तो यह उपयोग अपने स्वरूपसे बाहर ही रहकर तो विकल्प करेगा। अतएव जैनशासनने यह बताया है कि व्यवहार भी एक पक्ष है तो निश्चय भी एक पक्ष है। व्यवहार यदि जीव को रागसे सहित बताता है तो निश्चय जीव को रागसहित नहीं बताता, पर व्यवहार जो बताता है उसके बतानेमें हठ हो और निश्चय जो बताता है उसके बतानेमें हठ हो तो चित्तत्त्वका अनुभव नहीं हो पाता। अनुभवन का तो प्रसार इतना है कि चित्तत्त्वके अनुभवके महलके निकट इस जीव को भेज दे, उसके बाद यह स्वयं ही उस तत्त्वके अनुभवमें लगेगा। जैसे द्वारपालका तो इतना ही काम है कि किसी मिलने वालेको राजदरबारके निकट भेज दे, उस द्वारपालसहित वह न मिलेगा किन्तु अकेला ही मिलेगा। यों ही स्याद्वादके प्रसादसे, निश्चयनयके प्रसादसे हम उस तत्त्वके निकट पहुचें। अब जब हम अनुभव करें तब व्यवहारका पक्ष और निश्चयका पक्ष दोनोंसे रहित होकर उस शुद्ध प्रकाशका अनुभव करेंगे। उस ही के ग्रहण करनेके लिए ध्यानका वर्णन चलेगा। तो उस ध्यानकी कथनी अन्य लोग जिस प्रकार करते हैं उनमें कुनय है अतएव उससे हटकर स्याद्वादके ढंगसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके, स्याद्वादमार्गका शरण लेकर ध्यानका साधन करना ठीक है, यह एक स्मरण दिलाकर अब ध्यानका वर्णन इस ग्रन्थमें किया जायगा।

यच्चतुर्धा मतं तज्ज्ञैः क्षीणमोहैर्मुनीश्वरैः ।
पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्म सविस्तरम् ॥२८१॥

चतुर्विध ध्यानके विवरणकी सूचना—ध्यानके जानने वाले निर्मोह मुनीश्वरोंने विचारपूर्वक ध्यानका लक्षण पूर्ण प्रकीर्णक अगोंमें बताया है। द्वादशांगोंमें जो प्रकीर्णक प्रकरण है उन अगोंमें सविस्तार वर्णन किया है। यह एक मात्र सूचना है। जितना भी ध्यानके विषयमें विस्तार बना है इसका मूल वर्णन उस पूर्ण प्रकीर्णकमें है।

शताशमपि तस्याद्य न कश्चिद्वक्तुमीश्वर ।
तदेतत्सुप्रसिद्ध्यर्थं दिङ्मात्रमिह वर्ण्यते ॥२८२॥

ध्यानस्वरूपके दिङ्मात्र दर्शनकी उत्थानिका—जो वर्णन उस द्वादशाङ्ग सूत्रमें है उसका १०० वा भाग भी कहनेको कोई समर्थ नहीं है। द्वादशाङ्गका इतना विस्तार है कि उसमें जितने अक्षरोंका प्रमाण बैठता है उतने अक्षरोंमें कोई ग्रन्थकी रचना तो कर नहीं सकता। द्वादशाङ्ग तो एक मौखिक परम्परामें चले हुए होते हैं। शास्त्रोंमें लिख-लिखकर उस समस्त विषयको नहीं बताया जा सकता है तब फिर उसका हजारवा, लाखवा, करोड़वा हिस्सा भी कोई वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। लेकिन जो हितकी चीज है उसका येनकेनप्रकारेण कुछ वर्णन करना जरूरी है। उस ध्यानकी सिद्धिके लिए इस ग्रन्थमें ध्यानके सम्बधमें दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया है। जिसका काम है उसकी दिशाको दिखा देना। जैसे कोई किसी गाँवका रास्ता पूछे तो उस गाँवका रास्ता चप्पा चप्पा तो कोई बताता नहीं, एक दिशा बता देता है—इस तरह यहाँसे जावो। जो बुद्धिमान लोग हैं वे दिग्दर्शनका ही सहारा लेकर उस जगह पहुच जाते हैं। ऐसे ही ध्यानका इसमें दिग्दर्शन कराया है, फिर जो इसमें प्रवेश करने वाले विवेकी जन हैं वे स्वय अपने विवेक और बुद्धिबलसे उसमें प्रवेश कर जायेंगे। ध्यान नाम है चित्तकी एकाग्रता होनेका। ध्यानमें एकाग्रता तो हुई किन्तु अशुभ विषयोंकी ओर हुई तो वह ध्यान प्रशस्त ध्यान नहीं है। वह तो संसारको बढ़ाने वाला ही है। उस ध्यानका वर्णन करनेका कोई ध्येय नहीं है और कहीं वर्णन किया भी जाता है तो उसके छोड़नेके लिए वर्णन किया जाता है। यहाँ उस ध्यानका वर्णन होगा जिस ध्यानके प्रतापसे यह जीव रागद्वेष मोहसे रहित होकर अपनेको शुद्ध अनुभव कर ले।

परके उपेक्षाभाव करके ध्यानमें लगनेके पौरुषसे दुर्लभ नरजन्मकी सफलता—हम आप लोगोंने कितनी दुर्गतियोंको पार करके आज यह दुर्लभ अवसर पाया है। मनुष्य हुए, पर्याप्त हुए, सगति अच्छी है, शासन भी

उत्तम मिला, सभी बातें उत्तम हैं, ऐसा अवसर पाकर करनेका काम तो यह है कि बाह्यपदार्थोंकी उपेक्षा कर दें। जहाँ जो होता है उसके जाननहार रहें और अपने अन्तःज्ञानका प्रकाश बनावें, अपने स्वरूपको निहारें, सबको न्यारा देखें, अपने आपकी ओर झुककर जो अपने आपमें मग्नता बनेगी वही हम आप लोगोंके उद्धारका पुरुषार्थ है। शेष चीजें तो पुण्य पापके अनुसार मिलती हैं, बिछुड़ती हैं, उनमे हर्ष शोक क्या, उनके ज्ञाता-द्रष्टा रहना चाहिए। उद्यम तो होना चाहिए अपनी दृष्टि निर्मल बनानेकी। यदि कुछ हानि होती है, इष्टवियोग होता है तो उसमें खेद न करें। नुकसान होता है तो हो, मेरा क्या जाता है, और कुछ आता है तो मेरे लिए उससे क्या रहता है। मैं तो समस्त परपदार्थोंसे न्यारा केवल ज्ञानवृत्तिको ही भोगता रहता हूं। इससे आगे मेरा कोई हिसाब नहीं है। यों अपने आपके एकत्वकी ओर आये कोई तो वह है आत्माका सत्य पुरुषार्थ। और शेष जो समागम लगे हैं उनमें तो कोई तत्त्व नहीं है। ऐसा जानकर ऐसा उत्साह जगाना चाहिए कि बाह्यवस्तुवोंसे अपने आपमें कोई सुधार बिगाड़ क्षोभ हर्ष विषाद अनुभव न हो सके। कुछ मिला तो कितना ही मिल जाय उससे होता क्या है। मेरा जो अभीष्टतत्त्व है शान्ति और आनन्द उसकी दृष्टि नहीं है तो सारा ही लोक अगर मेरे सामने आ जाय कि लो यह है तुम्हारी विभूति तो मुझे उससे क्या प्रयोजन ? जिसे किसी इष्टवस्तुसे राग है स्त्रीसे या किसी मित्र आदिकसे और उसके छोड़नेपर वह ऐसे आशय में बन जाता है कि कोई हजारों लाखोंकी भी सम्पत्ति दे तो सुहाती नहीं है उसे सम्पदासे स्नेह नहीं होता। ऐसे ही जिसने अपनी सत्यसम्पदाका ज्ञान किया है, अपना जो ज्ञानानन्दस्वरूप है, जो भगवतोंमें विशद प्रकट है तो उसके पास चाहे तीन लोककी सम्पत्ति आ जाय फिर भी उससे क्या प्रयोजन ? मुझे तो मेरा ही वैभव चाहिए, मेरा ही स्वरूप चाहिए। यों बहुतसी सम्पदा मिलनेका कुछ भी हर्ष नहीं है ज्ञानी पुरुष तो उसे विपदा मानता है। इसी तरह सम्पदाका वियोग होता है तो और हो लो, उसके जानेसे मेरा क्या बिगाड़, मैं तो आनन्दस्वरूप ही हूं, और जिस स्वरूपमें हू वही स्वरूप मेरे साथ रहेगा। इनमें तो कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। मैं शाश्वत परिपूर्ण हू ऐसा अपने आपके स्वभावकी धारणामें जो दृढ रहता है ध्यान उसके सम्भव है। ऐसी विभूति पानेके लिए हमारी तैयारी भेदभावनासे शुरू होती है।

कषायवशीभूत पुरुषके ध्यानकी अपात्रता—जो पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंके रगमें रगा हुआ है वह कहाँसे इस ध्यानका प्रसाद पा सकता

है। जिसने कषायोंको ढीला कर दिया है, किसी भी प्रसंगमें क्रोधका संस्कार नहीं बनाता है, अपने आपमें घमंडकी बात नहीं करता, मायाचार से परे रहनेकी जिसकी उत्सुकता जगी है, लोभकषायके रंगमें जो नहीं रंगा हुआ है वही पुरुष ध्यानका पात्र होता है। गृहस्थोंमें भी अनेक गृहस्थ बड़े नम्र उदार शान्त सरल हुए हैं और पाये भी जाते हैं। प्रथम तो यह बतावो क्रोध किसलिए करना, क्रोधसे कुछ सिद्धि भी है क्या? सबका अपना-अपना उदय उनके साथ लगा है। जैसा उदय है होगा। क्रोध करके यह खुद अपना बिगाड़ करता है। जैसे कोई हाथमें आग लेकर दूसरेको मारे तो दूसरा जले या न जले किन्तु फेंकने वालेका हाथ नियमसे जल जाता है। इसी तरह क्रोध करने वाला क्रोध करके खुदका बिगाड़ कर लेता है, दूसरेका बिगाड़ हो या नहीं। तो ऐसा जानकर अपने आपमें ऐसा साहस बनाना चाहिए कि कितने ही प्रसंग आयें, मुझमें क्रोध न उत्पन्न हो, यह भी अपने आपकी रक्षाके लिए एक संकल्प है। मान तब होता है जब पर्यायमें आत्मबुद्धि जगती है। शरीरको निरखकर यह मैं हूं ऐसी दृष्टि होती है, मानकी बात मनमें आती है, मेरा अपमान हो गया, यह मेरा-मेरा कब बकता है जब पर्यायको आत्मा माना है। अन्यथा जो मैं हूं उसे मैं मानकर सोचूं तो इस मुझ चैतन्य तत्त्वका अपमान कौन करता है, इसको जानता ही कौन है। तो अभिमान भी तब होता है जब मोह और मिथ्यात्व बसा हुआ होता है। उस मानसे क्या सिद्धि है, किसमें मान दिखाना चाहते हो? इस जगतके सभी जीव प्रथम तो अनन्तानन्त जीवोंके समक्ष हैं कितने, और फिर मोही हैं, जन्ममरण करके संसारमें भ्रमण करने वाले हैं। ऐसे मलिन दुःखी इस जीव लोकमें कुछ नाम बना-कर कौनसी सिद्धि पा ली जायगी। इस यशकी आशासे खुदका भी बिगाड़ किया जा रहा है ऐसा जानकर इतनी उत्सुकता जगायें कि मुझे रंच भी न चाहिए नाम यश। किस बातपर लोगोंसे मायाचार करें। यहाँ कुछ भी वस्तु मेरे हितके लिए नहीं है, मैं किसकी प्राप्तिके लिए मायाचारका परि-णमन बनाऊँ। सरल रहें। जो मनमें है सो वचनमें कहा जाय, जो वचनमें हो सो कायसे किया जाय। किससे छल करना, किससे झूठ बोलना, किसकी चुगली करना। इसमें कौनसी सिद्धि प्राप्त हो जायगी। और, इन बातों में अपना दिमाग फँसाया तो और और भी सब लौकिक हानियाँ होंगी। लोभके रंगमें रंगकर अपने आपका घात क्यों किया जा रहा है। इन अनन्तानन्त जीवोंमेंसे ४-६ जीवोंको ही अपना सर्वस्व मानकर लोभ किया जा रहा है। लोभ कर करके जो धन जोड़कर रखा जायगा उसमें यह विकल्प है

कि मुन्ना मुन्नीको छोड़ जायेंगे। ठीक है पर यह बतावो कि वे कौन हैं तुम्हारे ? मरण होनेपर तो साफ ही निर्णय हो जाता, और, इस जीवनमें भी है नहीं कोई। और, फिर लोभसे धन नहीं जुड़ता है। निर्लोभ भाव होने पर पुण्याशयसे सम्पदा जुड़ती है, लोभके रगमें रगकर कोई सिद्धि नहीं पायी जा सकती है। तो जो चार प्रकारकी कषायोंको ढीला कर दे और अपने आपके स्वरूपमें मग्न होनेकी उमग रखे, ऐसी धुन जिसके बन जाय वही पुरुष ध्यानका पात्र होता है।

आत्मध्यानकी धुन होनेमें भलाई—व्यवहारिक बातोंमें भी परख लो किसी चीजका लोभ बन जाय, कोई चीज अधिक सुहा जाय तो निरन्तर, उसके ध्यानमें वह उत्सुक पुरुष भोजन भी छोड़ देगा, आराम भी छोड़ देगा, बड़ा कष्ट भी भोगेगा। एक तुच्छ असार बात मनमें समा जाय तो उसके पीछे बड़ा श्रम कर सकते हैं तो कोई विवेकी साधु तपस्वी एक इस चैतन्यस्वरूपके प्रेमकी धुनमें अनशन तपश्चरण आदिक काय क्लेश करे तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है। ठीक ही कर रहे हैं, तो मूलसिद्धि तो यही है कि हमारी स्वरूपकी प्राप्तिके लिए धुन बन जाय। जगतमें बहुतसे पदार्थोंके पानेकी कोशिश की, उनकी धुनमें रहे, और बड़ा श्रम किया, पर हाथ कुछ नहीं लगा। अब जरा एक उपाय अपने आपके स्वरूप की प्राप्तिका तो कर लें, उस धुनमें तो रह जाये, और उसका भी परीक्षण कर लें कि अपनेको कुछ मिलता है अथवा नहीं। जहाँ सैकड़ों परीक्षण कर डाला शान्ति और सुखकी आशामें वहाँ एक परीक्षण यह भी तो करके देख लें। सबसे ममत्व हटाकर देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखने की धुन बनायें, यह भी तो परीक्षण करके देख लें। सैकड़ों परीक्षण असफल हुए, फिर भी उनकी धुन नहीं छोड़ सके तो एक परीक्षण जो अभी तक नहीं किया है उसको भी कर लें। अपने जीवनका एक ऐसा अवसर तो बनायें कि अपने आपके स्वरूपका दर्शन तो किया जा सके। ऐसी जिज्ञासा बनाना यही है ध्यानकी एक तैयारी। और फिर उस ध्यानके तत्त्वमें बढ़ने पर क्या अनुभव होंगे वे तो सब अद्भुत हैं। उस ही ध्यानके विषयमें यहाँ वर्णन किया जायगा।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषैः प्रपञ्चितम्।
हेयोपादेयभावेन सविकल्पं निगद्यते ॥२८३॥

आर्तध्यानका वर्णन—ध्यानका लक्षण, ध्यानके गुण, ध्यानके दोष, ध्यानका अन्वय, ध्यानके व्यतिरेकका फल आदिक बहुतसे प्रकरण बताये जायेंगे। उन सब प्रकरणोंसे यह ध्यान नाना विकल्पोंसे उठाकर अर्थात् नाना परिस्थि-

तियोंसे भेद भावको प्राप्त हुए ध्यानका वर्णन किया जायगा। प्रथम तो यह वर्णन होगा कि कैसे गुण हों तो वहाँ धर्म होता है। दूसरा व्यतिरेक मुखेन वर्णन होगा कि जहाँ ऐसे दोष हों वहाँ ध्यान नहीं होता। अप्रशस्त ध्यान तो हेय है और प्रशस्त ध्यान उपादेय है। इसका भी वर्णन विशेषरूपसे कहा जायगा। प्रथम तो इन ध्यानोंके शब्दोंका अर्थ लगावा। आर्त मायने क्लेश। क्लेशमें जो ध्यान उत्पन्न होता है वह है आर्तध्यान। तो आर्तध्यानके जो भेद हैं—इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाप्रभव और निदान। इष्टका वियोग होनेसे उसके मिलापका जो चिन्तन चलता है वह है इष्टवियोगज आर्तध्यान। अनिष्टवस्तुवोंका जो ध्यान चलता है वह है—अनिष्टवियोगज आर्तध्यान, शारीरिक वेदना होनेपर जो क्लेशका अनुभव होता है वह वेदनाप्रभव और कल्पित इष्टवस्तुवोंको पानेकी आशा रखना सो निदान है। निदानमें भी घोर दुःख है। आशा-आशामें ही यह जीव अपने आपको कष्टमय बना लेता है। तो आर्तध्यान वह है जहाँ दुःखमयी ध्यान हो।

रौद्रध्यानोंका विवरण— रौद्रध्यान वह है जहाँ रौद्रभाव उत्पन्न हो। रौद्र मायने क्रूरता। इस क्रूरतामें यह जीव मौज मानता है। इसके ४ प्रकार हैं—हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषय संरक्षणानन्द। हिंसा करते हुए कराते हुए, हिंसाका उपाय बताते हुए मौज मानना सो हिंसानन्द रौद्रध्यान है। हिंसा क्रूरता बिना नहीं हो सकती। क्रूरता होने पर यह जोव मौज मानता है। झूठ बोलनेमें, स्वार्थ साधनेमें बहुतसे लोग अपनी चतुराई मानते हैं। झूठ बोलकर आनन्द मानना, यहाँ वहाँ चुगली करके आनन्द मानना यह स है मृषानन्द, यह भी कार्य क्रूरता बिना नहीं हो सकता। सरल पुरुष इस प्रकारके कार्य नहीं कर सकता है। चौर्यानन्दमें भी क्रूरता है, किसीका हर लेना, चुरा लेना और उसमें मौज मानना यह चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। इसमें भी क्रूरता भरी है। सरल पुरुष ऐसी प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। और, देखिये—जिस आत्माको झूठ बोलनेकी, चोरी करनेकी आदत पड़ जाती है अथवा ऐसी वृत्ति बन जाती है उस पुरुषका सब कुछ नष्ट हो गया। उसमें शान्ति और निराकुलता पानेकी योग्यता नहीं रहती। चोरी करके धनिक बनने वाले पुरुषको कहीं निराकुल नहीं देखा होगा और एक न्यायसे बिना चोरीके किसी भी प्रकार दरिद्र रहकर भी गुजारा करने वाला पुरुष सुखी मिलेगा, प्रसन्न मिलेगा। शान तानसे अपने जीवनको यों ही हँसी खुशीमें बिताने वाला मिलेगा। तो चोरी करके आनन्द मानना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। ५ इन्द्रिय और छठा मन इन इन्द्रियके विषयोंके संरक्षणमें, उनके साधनोंके संचयमें आनन्द

मानना सो विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। जो अपने प्रति क्रूर बन जाय, अपने आत्मप्रभुपर क्रूरताका प्रहार करे। वही पुरुष तो विषयोंसे प्रीति कर सकता है जिसे अपने आपपर दया नहीं है, अपने आपकी ओर निगाह भी नहीं रखता, जैसे कि लोग कहने लगते कि आप तो मेरे ऐसे खिलाफ हो गए कि मेरी ओर दृष्टि भी नहीं दिया करते। यों ही जो अपने इस आत्मप्रभुके खिलाफ हो गया कि किसी क्षण इसकी ओर निहारता तक भी नहीं है ऐसे पुरुषकी प्रवृत्ति होती है जगतके इन पौद्गलिक पदार्थोंके संचय करनेकी। जोड़ते जाओ, जुड़ गया, उनमें यह वृत्ति नहीं हो सकती है कि अपनेको जो मिला है वह है परके उपकारके लिए। तो विषयसंरक्षण करते हुएमें आनन्दकी बात मानना भी क्रूरतामें भी सम्भव है। क्रूरता बिना परिग्रहका सचय भी नहीं होता। इसमें भी दुतर्फा क्रूरता है। प्रथम तो अपने लिए क्रूर बन गया, अपनी भी वह सुध नहीं रखता और दूसरेको सताये बिना, कुछ दुर्व्यवहार किया बिना, छल कपट आदि अनेक बातें किए बिना इतना बड़ा संचय भी नहीं होता। संचय तो होता है पुण्याशय से। कोई बेईमानी करके भी धन सचय कर ले तो यही सोचना चाहिए कि बेईमानी करनेसे धनका संचय नहीं हुआ किन्तु पुण्यके उदयसे हुआ है। तो परिग्रहका सचय भी क्रूरताके बिना सम्भव नहीं है। यों चार प्रकारके रौद्रध्यानोंमें भी क्रूर आशय है।

अप्रशस्त ध्यानोंको छोड़कर ब्रह्मस्वरूपकी ओर आनेका संकेत—अप्रशस्त ध्यानोंके द्वारा यह जीव निजपरमात्मतत्त्वपर आक्रमण किया करता है। उन ध्यानोंको छोड़कर शुभ ध्यानोंमें प्रवृत्ति जगे ऐसा उद्यम करना है। उसके लिए साधन यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंको ढीला करें, इन कषायोंसे विराम लेकर अपने आपकी ओर झुकनेका यत्न करें। जो अपनी ऐसी सावधानी और साधना बनायेगा वह ध्यान करने का पात्र है। आत्मध्यानसे जो उसे अपने आपमें समृद्धि मिल सकती है उसका वह ध्याता अधिकारी है। यों ध्यानके विवरणमें कुछ अपने आपके लिए भी शिक्षा लेते रहना चाहिए कि हमारा क्या कर्तव्य है और इस प्रसगमें हम कितना अपनेको निभा सकते हैं, शक्ति न छिपाकर हम अपने आपको उस ध्यानके सिलसिलेमें ढालें और इस जीवनका कुछ लाभ उठायें, बाकी तो जो समागम हैं उनकी ममतामें अनन्तकाल बीता पर कुछ भी सिद्धि न हुई और न होगी, क्योंकि सब जुदे हैं। यह सबसे निराला है। ऐसा अपने आपको एकाकी समझकर अपनेको अपना उत्तरदायी जानकर परसे विराम लें और अपने आपके आशयकी स्वच्छता बनायें, इसमें ही

अपना कल्याण है।

ध्याता ध्यानमितस्तदङ्गमखिलं दृग्बोधवृत्तान्वित ।
ध्येय तद्गुणदोषलक्षणयुत नामानि काल' फलम् ॥
एतत्सूत्रमहार्णवात्समुदित , यत्प्राक् प्रणीत बुधै' ।
तत्सम्यक् परिभावयन्तु निपुणा अत्रोच्यमान क्रमात् ॥२८४॥

ध्याता, ध्यान और उसके अङ्गके वर्णनकी सूचना—ज्ञानी पुरुषोंने ध्यान से सम्बधित भिन्न-भिन्न विषयोंपर बहुत प्रणयन किया है वे ही समस्त बातें इस ग्रन्थमें क्रमसे कही जायेंगी। इससे सम्बधित जितनी बातें जानना आवश्यक है। प्रथम तो ध्याता कैसा होना चाहिए क्योंकि ध्यान जिसे करना है, ध्यान जिसे मिलना है उस ध्याताकी पात्रता हुए बिना ध्यानमें सिद्धि नहीं हो सकती। और, ध्याताको प्रथम तो अपने आपमें ऐसा निर्णय कर लेना चाहिए कि हम ध्यान करनेके पात्र हुए हैं अथवा नहीं। वे सब बातें ध्याताके लक्षणसे जानी जायेंगी। दूसरी बात समझनी चाहिए ध्यान की। ध्यानका स्वरूप क्या है, ध्यानका विस्तार कैसा है, ध्यानका लक्षण जानना चाहिए और उस ध्यानके अंग भी जानना चाहिए। ध्यानके क्या-क्या अग हैं। ध्यानके अंगोंमें मुख्य अंग तो विश्वास, ज्ञान और लगाव है, श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र है। जिस ओर, रुचि होगी, श्रद्धा होगी, मनुष्य का ज्ञान उस ओर ही लगेगा। और ज्ञानके निरन्तर एक ओर लगे रहनेकी वृत्तिको चारित्र कहते हैं। तो ध्यानका मुख्य सम्बध श्रद्धान, ज्ञान और चारित्रसे है। जो ध्यानके मुख्य अग हैं उनके कोई साधन तो बनाये नहीं, किन्तु जो ऊपरी सहायक बातें हैं—प्राणायाम या नाना प्रकारके शरीरकी साधना तो उन ऊपरी प्रयत्नोंसे ध्यानमें सिद्धि नहीं हो पाती। क्योंकि ध्यानके प्रधान अग हैं आत्मासे सम्बधित, शरीरसे सम्बधित नहीं हैं। तो श्रद्धान हमारा आत्मतत्त्वका हो और इस ही का परिज्ञान हो और ऐसे ही उपयोगमें हम निरन्त रह सके तो यह श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रका प्रताप होगा कि ध्यानकी सिद्धि होगी। ध्यान ससारके प्रत्येक जीवमें पाया जाता है, पर जीवोंका जैसा विश्वास हो वैसा ही उनके ज्ञान चलता है और वैसी ही उनकी प्रवृत्ति चलती है। तो इनका ध्यान उस ही प्रकारका होता है। अनन्तानन्त जीव तो आर्तध्यान और रौद्रध्यानमें कलुषित हो रहे हैं, कुछ ही विवेकी जीव हैं जो धर्मध्यानके पात्र हैं। तो जैसा हमारा श्रद्धान है, जैसा ही ज्ञान है, जैसा ही चारित्र है वैसा ही ध्यान बनता है। हमें मोक्षमार्गका उपकारी ध्यान यदि करना है तो मोक्षमार्गविषयक श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र होना चाहिए। तो ध्यानके मुख्य अग हैं—दर्शन, ज्ञान और

चारित्र। इन प्रधान अंगों समेत जो अन्य अंग हैं उन सबका वर्णन इसमें किया जायगा।

ध्याताके ध्येयके वर्णनकी सूचना—चौथी बात समझनी चाहिए ध्येय। हमारा ध्येय क्या है। लोकव्यवहारमें ध्येय कहते हैं किसी भी प्रकारकी स्थिति पानेको। आखिर आपका इन सब बातोंमें ध्येय क्या है, अर्थात् आप क्या करना चाहते हैं वह ध्येय कहलाता है लोकव्यवहारमें। और, यहाँ परमार्थमें किसी स्थिति पानेका नाम भी ध्येय है, मगर मुख्यतया जिसे एक चित्स्वरूपका ध्यान किया जाता है वह चित्स्वरूप ध्येय है। क्या बनना है यह भी ध्येय नहीं रहता जहाँ उत्कृष्ट ध्यान होता है। उत्कृष्ट ध्यानमें ध्येय एक आत्मस्वभाव है, वह केवल ध्येय है, कामना कुछ नहीं। किसी भी स्थितिको प्राप्त करनेकी चाह नहीं है, किन्तु जो वास्तविक परमार्थ तत्त्व है वह तो ज्ञानमें आयगा ही, बस वह परमार्थभूत तत्त्व ज्ञानमें आता रहे यह है उत्तम ध्यान और इस ध्यानका ध्येय है वह शाश्वत निरपेक्ष अकारणआत्मस्वभाव। तो ध्येयका भी वर्णन इसमें किया जायगा, फिर ध्येयमें क्या गुण हैं, क्या दोष हैं, यह भी कहा जायगा, संसारके जीव जिस जिसको ध्येय बताते हैं उस ध्येयमें क्या दोष है अथवा क्या गुण है, इसका भी ज्ञान करना चाहिए। ये तो सब तत्त्वसे सम्बध रखने वाली बातें हैं।

ध्यानके समय व फलके वर्णनकी सूचना—इनके अतिरिक्त ध्यानका समय भी जानना चाहिए। किस समय ध्यान करें। बड़ा वितंडावादका समय हो जहाँ शोरगुल हो, जहाँ सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण आदिक शोरगुल वाला समय हो या अन्य किसी विशिष्ट पुरुषके आने जानेका समय हो या अन्य भी ऐसे समय जिनमें चित्तकी एकाग्रता नहीं बनती है वह समय टालना चाहिए और योग्य समयमें ध्यान करना चाहिए। वे योग्य समय क्या-क्या हैं इसका वर्णन इसी ग्रन्थमें किया जायगा। ध्यानका फल भी समझना चाहिए, क्योंकि विवेकी पुरुष किसी इष्ट और हितरूप प्रयोजनके बिना कार्य नहीं करते। बिना प्रयोजन जो कार्य करे लोग उसे पागल कहा करते हैं। देखा होगा पागल कहाँ जाता है, कहा आता है, कहं बैठता है, क्या बोलता है, क्या करता है, उसकी समस्त क्रियावोंका कोई प्रयोजन नजर नहीं आता। उसकी बेसुध धुनि है, दिमाग ठिकाने नहीं है, सो बिना प्रयोजन ही वह अनेक काम करता है, किन्तु विवेकी पुरुष प्रयोजनके बिना कोई प्रवृत्ति नहीं करता। तो हम ध्यानमें अपनी प्रवृत्ति करें इससे हमें प्रयोजन भी तो समझना चाहिए। ध्यानका फल हमें क्या प्राप्त होगा, और किस

प्रयोजनके लिए हम ध्यान करने चलें, इस सम्बन्धमें दो स्थितियां होती हैं। प्रथम तो ध्यानके प्रयोजनपर दृष्टि होती है—मुझे संसारसागरसे तिरना है, अव्याबृत पदमें अपनेको लगाना है समस्त संकटोंको दूर करना है, विशुद्ध निराकुल आनन्दकी प्राप्ति करना है यह प्रयोजन रखकर ध्याता ध्यान करता है लेकिन जब ज्ञानकी ओर स्वच्छता प्रकट होती है तो उन्हें इसका भी विकल्प नहीं रहता कि मुझे निराकुल सुख पाना है, शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति करना है, ऐसे भी विकल्प उनके नहीं रहते, किन्तु तत्त्व है, चीज है, जो परमार्थभूत है वह ज्ञानसे कैसे वंचित रहे और वही एक सत्य है। तो असत्यमें दिल लगानेका प्रयोजन तो कुछ रहा नहीं। तो जब अशुद्ध पदार्थमें, मायामय पदार्थमें उपयोग लगानेका कोई प्रयोजन नहीं रहा तो सहज ही उसका ध्यान, उसका ज्ञान शुद्ध परमार्थस्वभावपर पहुंचता है, फिर अन्तमें प्रयोजनके विकल्पसे रहित होकर उसकी ध्यानवृत्ति बनती है, पर ध्यानका फल समझे बिना ध्यानमें प्रवेश नहीं होता। तो इन सब तत्त्वोंका वर्णन पूर्वाचार्योंने जो दर्शाया है, अंग पूर्वके सूत्र महासमुद्रसे इन रत्नोंको निकालकर जो कुछ-कुछ प्रकट किया है वे सब बातें इस ग्रन्थ में क्रमसे कही जायेंगी। जो कुशल हैं, आत्मदयाकी जिनके विशिष्ट धुन है उन पुरुषोंको चाहिए कि इन सब अंगोंके स्वरूपका अभ्यास करो। अपने आपको परपदार्थोंसे हटाकर अपने आपके स्वरूपमें लगावो, यही एक सारभूत पुरुषार्थ है।

ध्याता ध्यान तथा ध्येय फलं चेति चतुष्टयम्।
इति सूत्रसमासेन सविकल्पं निगद्यते ॥२८५॥

ध्याता ध्यान, ध्येय और फलके वर्णनका उपक्रम—उक्त छंदमें जिन जिन अंगोंको बताया है उन सबको संक्षेपमें किया जाय तो चार बातें रख लीजिए—ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल—इन चार चीजोंका संक्षेपसे भेद सहित निरूपण किया जायगा। किसी भी कार्यको करें तो उसमें चारका सम्बंध रहता ही है—कर्ता, क्रिया, कृत्य और क्रियाफल। ये चार बातें समझे बिना किसकी प्रवृत्ति होती है। तो यहाँ ध्यानके प्रकरणमें भी इन चार बातोंका जानना अति आवश्यक है। इन चार बातोंमें से सर्वप्रथम ध्याताका वर्णन कर रहे हैं। ध्याता कैसा होना चाहिए।

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥२८६॥

प्रशंसनीय ध्याताका निर्देश और अपना कर्तव्य—शास्त्रमें ऐसे ध्याताकी प्रशंसा की गई है जो मुमुक्षु मोक्षकी इच्छा रखने वाले अर्थात् संसारके

सकटोंसे छूटनेकी अभिलाषा रखते हैं। जो ध्यान करने वाला है उसका कुछ लक्ष्य तो होना चाहिए—किसलिए ध्यान किया जा रहा है। संसारसे छूटनेके लिए ध्यानकी प्रवृत्ति हो रही है। तो जो मुमुक्षु पुरुष हैं वही ध्याता हो सकता है। जब जब भी ध्यान, ध्याता, ध्येय ये शब्द आयें तब मोक्षमार्गसे सम्बधित ध्याता ध्यान आदिक समझना चाहिए। तो ध्याता मुमुक्षु हुआ। कोई यदि मोक्षकी चाह नहीं रखता तो मोक्षके कारणभूत ध्यानको कैसे कर सकता है। हम इन बातोंकी रोज-रोज कोशिश करें प्रभुदर्शनमें, प्रभुस्तवनमें और अन्य धर्मकार्योंमें इस बातपर अपना बल दें कि इस अमूर्त निज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको सर्वप्रकारके लेपसे रहित होना है। आनन्द उस ही स्थितिमें है। इन मायामयी पदार्थोंके समागममें झमेलोंमें आनन्द कुछ नहीं है। व्यर्थके विकल्प हैं। कुछ आया, कुछ गया, कुछ रहा, कुछ देखा, निरन्तर विकल्प ही विकल्पोंमें यह ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व झुलसा जा रहा है। यहाँ सारका नाम भी नहीं है। मेरा सारभूत, हितभूत, शरणभूत सर्वस्व मुझमें ही है। वह है मेरा सहज चैतन्यस्वरूप। देखिये अधर्म करनेके लिए तो बड़ा श्रम करना पड़ता है और धर्म करनेके लिए विश्राम किया जाता, पर मोहका ऐसा तीव्र उदय है कि जगतके प्राणी श्रममें तो लग रहे हैं और विश्रामकी बात उन्हें कठिन लगती है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और और भी व्यसनोंकी प्रवृत्तिया इन सब पापकार्योंमें कितना श्रम करना पड़ता है, कितने विकल्प बनाने होते हैं, कितनी चेष्टायें करनी पड़ती हैं, कितनी तरहके मायाचार करने होते हैं, लोकका भी कितना बोझ ढोना पड़ता, इन अधर्मरूपी प्रवृत्तियोंमें सदा श्रम ही श्रम बना रहता है, और इतना ही नहीं—नींद भी लें तो सोते हुएमें भी विकल्पोंका श्रम लगा रहता है। अधर्ममें बड़ा श्रम करना पड़ता है किन्तु धर्ममें अधर्मके सारे श्रमोंको दूर करनेसे धर्म प्रकट होता है। अतएव वहाँ विश्राम ही करना होता है। धर्म आत्माका ध्यान स्वभावका अवलम्बन है। केवल सत्य जाननहार रहना यही आत्मधर्म है। मात्र जाननहार रहें ऐसा करनेमें शरीरका श्रम किसे करना पड़ता है? शरीरकी सारी चेष्टाएँ समाप्त हो जाती हैं। इस ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप धर्मके लिए वचनोंका कहाँ श्रम करना पड़ता। क्या बोलनेकी आवश्यकता है। बोलना चालना तो तब हुआ करता है जब यह ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप धर्ममें स्थित नहीं हो पाता। चाहे वह बोलना इस धर्मके लिए ही क्यों न हो पर बोलनेकी प्रवृत्ति धर्ममें दृढ़ स्थिरता न होनेके कारण होती है। यहाँ वचनोंका भी श्रम करना पड़ता, पर वचनोंको

गुप्त करनेसे यह धर्म प्रकट होता है। इसी प्रकार इस धर्मपालनमें मनका भी श्रम नहीं करना पड़ता। ऐसे सहज सुगम स्वाधीन धर्मपालनमें प्रमाद नहीं करना अपना कर्तव्य है।

धर्म और धर्मपालनकी सुगमता—भैया! कुछ ऐसा लगता होगा कि धर्म तो मनकी ही बात है। मनसे ही परें विचार चढ़ावर करें तो धर्म-पालन होता है लेकिन यह जानना चाहिए कि मनकी शुभचेष्टासे, मनके द्वारा विशुद्ध चिन्तन करनेसे जो इसकी प्रवृत्ति लगती है वह धर्मपालन नहीं है किन्तु उपधर्मपालन है। अर्थात् इस उत्तम निर्विकल्प ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप धर्मके निकट ले जाने वाला वितर्क है। जिस वितर्कके द्वारा हम इस निर्विकल्प धर्मके निकट पहुंचते हैं। इस धर्मपालनमें मनके भी श्रमकी आवश्यकता नहीं है। भले ही धर्मपालनसे पहिले शुभोपयोगमें इस मन, वचन, कायकी शुभ चेष्टाओंकी परिणति रहती है और शुभ परिणति हुए बिना, शुभोपयोग हुए बिना शुद्धोपयोगका भी प्रवेश नहीं हो पाता। लेकिन जब साक्षात् निर्णयकी बात कही जाय तो यह कहना होगा कि जहाँ मन, वचन कायकी क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं वहां धर्मका प्रकाश होता है। धर्मपालन करनेमें श्रम नहीं करना पड़ता। किन्तु एक विशुद्ध विश्राम मिलता है। लेकिन मोहका ऐसा तीव्र उदय होता है कि जगतके जीवोंको विश्राम का काम तो कठिन लग रहा है और श्रमके काम सरल लग रहे हैं। जैसे दृष्टान्तमें धनार्जन और ज्ञानार्जनकी बात रखिये—इन दोनोंमें कौनसा काम करना सरल है? बहुतसे पुरुषोंका उत्तर तो यह आयगा कि धनार्जन करना सरल है, ज्ञानार्जन करना कठिन है, पर ऐसी बात नहीं है। धना-र्जन करना तो अपने हाथकी चीज नहीं है, यह कठिन बात है पर ज्ञाना-र्जन करना बड़ी सरल बात है। लोग कहते कि बैठ गये दूकानमें, कारखाने में, हजारों रुपयेकी आमदनी होती है, धनार्जन करना तो अपने बायें हाथ का खेल है, पर ऐसी बात नहीं है। धनार्जन करना सुगम तो क्या, अश-क्य है। कोई आत्मा धनका अर्जन कर नहीं सकता। ये बाहरी बातें जो हो रही हैं पुण्यापापके उदयसे हो रही हैं। इसमें कुछ भी यह जीव नहीं करता है। अच्छा आप यह बताइये कि दूसरेकी जेबसे पैसा निकालना सरल है या कठिन? अभी उत्तर यह चल रहा था कि सरल है। और, आपका जो स्वरूप है ज्ञान उस ज्ञानका अर्जन सरल है या कठिन है? तो अभी मोही जीवोंका उत्तर चल रहा था—कठिन है। लेकिन कुछ भी विवेक से विचार करें तो स्पष्ट समझमें आयगा कि ज्ञानार्जन तो अति सरल है और धनार्जन कठिन क्या अशक्य है। कल्पनामें मान लो वह बात और

है। आत्मा तो अमूर्त ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है। उसमें अर्जन होगा तो या तो अज्ञानका या ज्ञानका। धनका तो कोई सवाल ही नहीं है। तीसरी चीज का वहां प्रवेश ही नहीं है। धन मकानकी बात कौन कहे। तो जब जीव अपने आपके स्वरूपसे अपरिचित हो जाता है और इस ही कारण उसका यह निर्णय हो जाता कि जैसा मेरा सहजस्वरूप है वैसा मैं अपनेको प्रकट कर सकता हू, अर्थात् जो कलावला इसमें लग गया है उससे मैं छूट सकता हू, तो इन संसार विडम्बनासे छूटनेकी अभिलाषा जगती है।

प्रशसनीय ध्याता—संसारसंकटोंसे छूटनेकी जिसके अभिलाषा बनी हो वह मुमुक्षु ध्याता हो सकता है। वही ध्याता प्रशंसनीय है। ध्याता कैसा होना चाहिए, इस प्रकरणमें ध्याताकी विशेषता कही जा रही है। वह जन्मनिर्विण्ण हो अर्थात् संसारसे विरक्त हो। द्रव्यससार और भावसंसार जिसे सुहाता हो ऐसे पुरुषका ध्यान आत्मसाधनामें कैसे लग सकता है। ये विषयप्रलोभन, विषयसाधन इस जीवके लिए बड़ी विपदायें हैं। और, जब कुबुद्धि उत्पन्न होती है तो ये विपदायें नहीं जचतीं। ये बड़े सुखदायी हितकारिणी मालूम होते हैं, पर विषयकषायोंका छा जाना यह जीवपर घोर संकट है। वही पुरुष वास्तविक प्रसन्न है जिसकी रुचि शुद्धस्वरूपमें लगी हो, परमात्मभक्तिमें, तत्त्वचिन्तनमें लगी हो। तो जो संसारसे विरक्त है वही पुरुष प्रशसनीय ध्याता है, क्योंकि ससारकी जिसकी रुचि हो वह ध्यान लगायेगा कहां, ससारमें ही, विषयोंमें ही। वह ध्यान प्रशस्त ध्यान नहीं है। ध्याता पुरुष वही प्रशसनीय है जो शान्तचित्त है। जैसे कोई मनुष्य किसी लौकिक कार्यको क्रोध करके कर सकता है ना? अच्छा हटो जी यहांसे, तुम नहीं करते हो तो मैं करता हू देखो मैं करता हू, सबको हटाओ यहांसे। इस कार्यको मैं करूँगा। क्रोध कर करके जैसे लौकिक कार्योंको किया जा सकता है। किसी नौकरने काम बिगाड़ दिया तो क्रोध करके उसे हटावो और क्रोधमें रह रहकर उस कार्यको कर लिया जाता है। जाने आनेका काम, रसोई पानीका काम ये सभी काम क्रोध करके किए जा सकते हैं ना? तो कोई पुरुष यदि क्रोध करके, गुस्सेमें आकर कहे कि हटो जी मैं धर्म करता हू तो क्या क्रोधपूर्वक धर्म किया जा सकता है? आना, जाना, बैठना, भागना ये तो क्रोधपूर्वक किये जा सकते हैं पर धर्म-साधना क्रोधपूर्वक नहीं की जा सकती है। क्रोधपूर्वककी बात जाने दो किन्तु ध्यान करनेसे घंटों पहिलेसे शान्ति होते रहना चाहिए तब ध्यान बन सकता है। जो शान्तचित्त है, जिसकी शान्तिकी प्रकृति है वही वास्तव में प्रशंसनीय ध्याता हो सकता है। ध्याताको इन्द्रियवशी होना चाहिए।

जिसकी इन्द्रियाँ वश हों वह इन्द्रियविषयोंके आधीन न हो, जिसका मन वश हो वही पुरुष प्रशंसनीय ध्याता हो सकता है। मनको वश किये बिना वह ध्यानमें कैसे लगेगा? यह मन तो रागके विषयभूत अनेक पदार्थोंमें दौड़ता रहेगा तो वहां ध्यानकी सिद्धि नहीं बन सकती। इस प्रकार ध्याता के कुछ विशेषण बताये हैं और आगे भी सुनोगे कि ध्याता पुरुष कैसा होना चाहिए, कौनसा ध्याता प्रशंसनीय है।

प्रशस्त ध्याताके चिह्नोंमें मुमुक्षुता, जन्मनिर्विण्णता, शान्तचित्तता, वशिता व स्थिरताका वर्णन—संसारके समस्त संकटोंको मिटानेके लिए अतीव आवश्यक आत्मध्यानमें जो उपक्रम करते हैं ऐसे महापुरुष ध्यानको प्रारम्भ करते हैं, और उनकी पात्रता कैसी है, किस प्रकारके वे पुरुष होते हैं जो ध्यानमें सफल हो जाते हैं उनका वर्णन किया जा रहा है। जो ध्याता होना चाहता है उसमें इतनी पात्रताएँ होनी चाहिएँ। प्रथम तो वह मुमुक्षु हो, संसारके संकटोंसे उसे छूटनेकी उसके अभिलाषा हो, दूसरी बात— वह संसारसे विरक्त हो। संसारके समस्त समागमोंको मायारूप अहितकारी भिन्न समझकर उनसे विरक्त रहता हो, तीसरी बात—वह शान्त चित्त हो, चौथी बात है—इन्द्रिय और मनको वश करने वाला हो। इन चार विशेषणोंके बाद अब ५वीं विशेषता कह रहे हैं कि वह स्थिर हो। जिसका मन स्थिर हो उसमें अन्य द्रव्य भी अस्थिरता उत्पन्न नहीं कर सकते। और शरीरसे भी स्थिर हो, अपने आसनमें साङ्गोपाङ्ग दृढ़ हो सकता हो, तब शरीर बहुत देर तक ठहर जाता है, और, जब ध्यानमें शुद्ध आशय नहीं है, आत्मध्यानमें मन नहीं लगता है तब उस समय आसन जरा-जरासी देरमें बदले जाते हैं। किसी बातका विशेष ध्यान बन जाय तो आसन बारबार नहीं बदले जाते हैं। तो कुछ ध्यानकी एकाग्रताकी ओरसे ऐसा बल मिला कि शरीरके आसन अस्थिर नहीं रहे। इस शरीरकी स्थिरतासे यह बल मिला कि ध्यानकी एकाग्रता बनी। ध्याता पुरुषको स्थिर होना चाहिए क्योंकि शरीरके चलायमान रहनेसे ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है। जो पुरुष व्यग्र हो, जिसने कोई महापाप किया हो, हिंसा आदिक कोई कार्य कर आया हो, ऐसे पुरुष बहुत जल्दी पकड़े क्यों जाते हैं कि वे अस्थिर मन और अस्थिर शरीरके होते हैं। उनकी आंखें, उनकी निगाह, उनका शिर, उनके सब अग स्थिर और शान्त नहीं रह पाते हैं, उस व्यग्रताको देखकर पहिचानने वाले लोग उन्हें पकड़ लेते हैं। तो जब चित्तमें राग मोह बहुत अधिक रहा करता है तो शरीर भी स्थिर नहीं रह पाता। शरीरकी स्थिरतासे ध्यानकी पात्रताका अनुमान होता है और ध्यानकी सिद्धि होती है।

ध्याता पुरुषकी जितेन्द्रियताका वर्णन—ध्याता पुरुष जितेन्द्रिय होता है। इन्द्रियके विषयोंको जीतने वाला होता है। इन्द्रियके विषयोंको जीतने में वस्तुतः वह पुरुष समर्थ होता है जिसने वस्तुस्वरूपका निर्णय करके ऐसा भेदविज्ञान किया है जिसके प्रतापसे वह अपने आपको इन द्रव्येन्द्रियोंसे न्यारा और अन्दरमें उठनेरूप विकल्परूप भावेन्द्रियोंसे न्यारा और इन्द्रियके साधनभूत स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द वाले इन पौद्गलिक विषयोंसे न्यारा ज्ञानमात्र समझता है वही पुरुष इन्द्रियोंको वास्तविक जीतने वाला होता है। इतनी बात कोई चाहे करके न जानता हो, इतनी बात न बोल सकता हो लेकिन दृष्टि बन गई हो वह जितेन्द्रिय बन जाता है। तो ध्याता पुरुषको जितेन्द्रिय होना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियके जीते बिना वह इन्द्रियविषयोंमें प्रवृत्ति करेगा। उससे ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जिन्हें विषय विष ही प्यारे लगते हैं उनको यह ध्यानका अनुपम जीवन नहीं प्राप्त हो सकता है। जैसे मछली, मास, मदिरा आदिककी दुर्गन्धमें बने रहने वाले ढीमर आदिक लोग कहीं फूलकी महकके बीच पहुंच जायं तो उन्हें वहां चैन नहीं आती। उन्हें चैन तो उन मछलियोंकी दुर्गन्धमें ही आया करती है। ऐसे ही विषयोंके व्यामोहमे फँसे हुए संसारी जीवोंको संयम, ज्ञान, वैराग्य, धर्मकी बातोंमें रुचि नहीं होती है। तो जितेन्द्रिय होना चाहिए ध्याता पुरुषको। ये सब विशेषण कहे तो जा रहे हैं पर सब विशेषणोंका मूल है—सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। सम्यग्ज्ञानके बिना कोई विशेषता अपनी विशेषता नहीं रख सकती। तो ध्याता पुरुषको जितेन्द्रिय होना चाहिए।

ध्याताकी सबलता—७ वीं बात कह रहे हैं कि वह संयमी भी हो, जो खानपान आदिकमें विकल हो जाय, क्षुधा, तृष्णा आदिकसे व्याकुल बन जाय उस ध्याताकी सिद्धि कैसे हो सकती है। हित क्या है और हितका यत्न क्या है इसका परिचय हो जानेपर फिर जो-जो भी प्रवृत्तियां वहाँ बनती हैं वे सब प्रवृत्तियां हमारे हितमें साधक होती हैं, और, एक अपने आपके अतस्तत्त्वका परिचय न हो तो समस्त संयम तपश्चरण आदिक उन प्रकाशोंको उत्पन्न नहीं कर सकते हैं जिन प्रकाशोंमें यह जीव शान्त रह सकता है। इस मोक्षमार्गके अभिलाषी जीवको क्या करना है, कितना काम करना है? अज्ञानी जनोंको तो बहुत संख्यामें काम दिखेंगे। ये व्रत करना, संयम करना, तपश्चरण करना बहुत काम करने पड़ते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुषको केवल एक ही काम दिखता है। ज्ञानी भी व्रत तपश्चरण करता है पर उसको काम एक ही दिखता है, बहुतों नहीं दिखते हैं

प्रवृत्ति व्रत संयममें उसकी भी है, पर लक्ष्यकी बात है। कौनसा काम पक करनेको पड़ा है? अपने सहजस्वभावका दर्शन। अपने स्वरूपका परिज्ञान। उसका ही निरन्तर उपयोग बना रहे, बस यही काम उसे करनेको पड़ा है। इस काममें योग्यता आती है तो कहीं कुपथमें यह मन न भ्रम जाय, कहीं यह कुध्यानका पात्र न बन जाय इसके लिए अनशन, ऊनोदर प्रायश्चित आदिक जितने भी अन्त.तपश्चरण हैं, समिति गुप्ति, सत्य भाषण, व्रतपालन समस्त प्रकारके जितने भी व्यावहारिक धर्म हैं, कर्तव्य हैं उन्हें यह ज्ञानी भी करता है किन्तु उन्हें करते हुए ऐसा ही मुझे करते रहना है यह ध्यानमें उसके नहीं है। उसके ध्यानमें केवल एक ही काम है, किन्तु अंतस्तत्त्वसे अपरिचित अज्ञानी पुरुषोंको करनेके लिए व्यवहारधर्म के पचासों काम पड़े हैं, उसकी श्रद्धामें यह है। जैसे कि साधारण गृहस्थों की श्रद्धामें घरके बीसों कामकाज बसे रहते हैं, अब यह करना है, अब दूकान जाना है, अब वहाँ जाना है, उनसे बात करना है, दसों काम जैसे बसे हुए हैं इसी ढंगसे प्रोग्रामके अनुसार इसे भी पचासों काम बसे रहते हैं। हैं वे व्यवहारधर्मके ही कार्य। हैं वे व्रत संयम तपश्चरण आदिक ही, लेकिन अन्तः उनका करना ही बसा रहता है। तब उस ज्ञानी पुरुषको अन्तरमें एक सहजस्वभावका उपयोग करना ही धुनमें बना रहता है। जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं वे भी तपश्चरण करते हैं, पर तपश्चरणका उनका प्रयोजन एक ही कामके लिए है। यह बात संयमसे सम्भव है, अंतःसंयम और व्यवहारसंयम। ध्याता पुरुषको इतना अभ्यास कर लेना चाहिए उपवास आदिक करके कि कोई क्षुधा तृषा आदिक वेदनाएँ आयें, कभी ऐसा अवसर आये तो उन्हें सुगमतया पार कर सकते हैं और अपने ध्यानके लक्ष्यसे भ्रष्ट नहीं हो सकते हैं। ध्याता पुरुष कैसा हुआ करता है, कौनसा ध्याता प्रशंसनीय है उसके प्रकरणमें ये सब विशेषताएँ कही जा रही हैं।

ध्याताकी धीरता—८ वां विशेषण है कि ध्याता धीर हो। उपसर्ग आनेपर ध्यानसे यदि न गिरे तो ध्यानकी सिद्धि होती है। कोई अनुकूल प्रतिकूल वातावरण हो तब भी अपना धैर्य न तजे, जरासी अनुकूल बात देखकर एक एकदम अपना सर्वस्व उपयोग समर्पण कर दे और कुछ भी प्रतिकूल बात देखकर उसकी ओरसे मुख मोड़ ले अथवा द्वेष रखे तो वह धीर कैसे हो सकता है, और जब तक धीरता न हो तब तक ध्यान कैसे बन सकता है। धीरका अर्थ है धैर्य देने वाला भाव। जब धैर्य होता है तब बुद्धि कितना काम देती है। जब किसी बातकी अधीरता होती है तो बुद्धि काम नहीं देती। कहो हाथमें रखी हुई चीजको बाहर ढूँढने लग

जायें। जब अधीरता होती है तो अपने आपकी भी सुध नहीं रहती। तो ध्याता पुरुषको धीर होना चाहिए। ऐसे ८ विशेषणोंसे एक प्रशसनीय ध्याताका वर्णन किया गया है।

उदीर्णकर्मेन्धनसम्भवेन दुःखानलेनातिकदर्थ्यमानम्।
दन्दह्यते विश्वमिदं समन्तात्प्रमादमूढं च्युतसिद्धिमार्गम् ॥२८७॥

प्रमादी मूढ़ पुरुषोंको प्राप्त दण्ड—जिन पुरुषोंने मोक्षमार्गको छोड़ दिया है और प्रमादके कारण पर्यायमें मूढ़ हुए हैं ऐसे प्राणी उदयमें आये हुए कर्मरूप ईंधनोंसे उत्पन्न जो क्लेशरूपी अग्नि है वे निरन्तर पीड़ित होते हुए जलते हुए चारों ओरसे भस्मसा होते हुए बरबाद हो रहे हैं। चीज सब जगह केवल एक ही एक है। प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आपमें है, किसी भी पदार्थमें किसी दूसरे पदार्थका स्वरूप नहीं मिला, दो मिलकर कभी एक नहीं बन सकते। जो एक है वह आज तक कभी मिट नहीं सका। तो हम आप सब जो-जो भी एक सत् हैं, आत्मा हैं वह आत्मा सदा रहेगा, कभी मिटने वाला नहीं है। लेकिन ऐसा जीव किस कामका जिस जीवनमें प्रकाश न आया हो। व्यर्थकी मान्यतावोंका अधेरा छाया हो, अपनेही आपकी दया करनेमें प्रमादी बन रहा हो। भले ही वह जगतमें जग रहा है लेकिन यह जीवन किस कामका। ऐसा मोही प्राणी अब भी दुःखी है, और मरण करके जहाँ जन्म लेगा वहां भी दुःखी रहेगा। मोहमें किसी का पार नहीं हो सका। जब चित्त शान्त हो, ज्ञानके लिए अपना उपयोग चले तब यह बात विदित होती है कि हो क्या रहा है यह। जैसे कहते हैं कि सूत न कपास कोलीसे लट्ठमलट्ठ। मेरा बाहर कहीं कुछ नहीं है, किसी का मैं कुछ नहीं हूं, सब एक-एक स्वतन्त्र हैं, सबका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनका उनमें हो है। उस सम्बन्धकी बात ही नहीं है लेकिन यह मोही प्राणी अत्यन्त भिन्न पदार्थोंमें भी यह मेरा है इस प्रकारकी अपनायत कर रहा है। इतनीसी भूल है, और दण्ड इतना मिलता है कि निगोद, स्थावर, विकलत्रय, नारकी आदिकके नाना बड़े-बड़े क्लेश भोगता है। अत्यन्त भिन्न परवस्तुवोंको यह मेरा है ऐसा मान लेनेका इतना बड़ा दण्ड है। व्यवहारमें कोई किसीका कुछ बिगाड़ कर दे तो वह दण्डका पात्र होता है। मनमें कुछ बुरा सोचे तो लोग उसे दण्ड नहीं देते। हा पता पड़ जाय कि इसके मनमें इतना बुरा विचार है तो उसका भी दण्ड होता है। पर यहां देखो कि केवल एक परिणाममें सोचा ही था कि यह मेरा है, वह मैं हूं, इतना सोचनेभरका इतना बड़ा दण्ड मिला कि नाना तरहके देहोंमें इसको फँसा रहना पड़ा और नाना विकल्पज्वालावोंमें जलना पड़ा।

संसारके समस्त दण्डोंका कारण पर्यायव्यामोह—इन समस्त दण्डोंमें मूल अपराध क्या है जिस अपराधपर कितने भी दण्ड हो सकते हैं। वह मूल अपराध है अत्यन्त भिन्न पदार्थोंको यह मैं हूं, यह मेरा है ऐसा मान हुए हैं। तो जो पर्यायमूढ़ जीव हैं, परसमय हैं। पर्याय ही सर्वस्व है, द्रव्य है ऐसी समझ रखने वाले लोग ही तो पर्यायमूढ़ कहलाते हैं। सांस्कृतिक शब्दोंमें यों कह लीजिए कि पर्यायको द्रव्य माने वही मूढ़। और अपने पर घटित करके यों कह लीजिए कि जो इन विनाशीक वस्तुवोंको अपना सर्वस्व माने वह पर्यायमूढ़ है। जो ऐसे पर्यायमूढ़ पुरुष उदयमें आये हुए कर्मोंके निमित्तसे जो दुःख उत्पन्न हुए उन दुःखोंसे सब ओर जलते रहते हैं। मित्रजन कहते हैं अजी क्या फिकर करते हो। जब तक हम जिन्दा हैं तुम्हारा कोई बाल बांका नहीं कर सकता। अधिकारी जन खुश होकर उसे नाना तरहके आश्वासन देते हैं, और-और लोग भी अपनी बड़ी प्रीति दिखाते हैं लेकिन ये सब बाहरके काम तब तक ही बन रहे हैं जब तक कि कुछ पुण्यका उदय है। पापका उदय आनेपर कोई किसीका बँधा नहीं है, कितने ही वायदे किए हों प्रथम तो कोई सफल नहीं हो सकता, परपदार्थोंके सम्बंधमें किए हुए वायदोंको पूर्ण करनेमें और फिर प्रतिकूल उदय होनेपर सब मुख फेर लेते हैं। जैसे थोड़े समयको यों ही समझ लीजिए—जो पुरुष धनी है, किसी अन्य लोगोंके काम भी आता है उसके प्रति जनताका कितना आकर्षण रहता है, और दरिद्र हो जानेपर फिर जनताका क्या व्यवहार होता है सो निरख लीजिए। कोई पुरुष बलिष्ट है, जवान है, शरीरबलसे दूसरोंकी सेवा करता है उसके प्रति लोगोंका कितना सुन्दर व्यवहार रहता है। जब अत्यन्त वृद्ध हो गया, चलते भी नहीं बनता तो भले ही कोई लोग सेवा कर लें, पर दिलकी बात तो देखिये—उसके प्रति लोगोंका आकर्षण नहीं रहता। यह संसारकी दशा है। तो यहाँ किस समागममें विश्वास लगाना उचित है, समस्त समागम मायारूप हैं, इन सब मायाजालोंमें आत्माको कहीं हित नहीं मिल सकता। सो ऐसे मूढ़ पुरुष अपने आपको कष्टोंसे जलाते रहते हैं।

कष्टोंका कारण अज्ञान—कष्ट आते ही उसे हैं जिसका ज्ञान बिगड़ गया हो। जिसका ज्ञान शुद्ध है, सही लक्ष्यकी ओर बना है उसको चिन्ता क्या? बाहरी चीजें आयीं अथवा गयीं, वैभव रहा अथवा गया, कोई सुन्दर बोलने वाला रहा या अप्रिय बोलने वाला रहा, जो कुछ भी हैं वे बाह्यवस्तुवें हैं। उनसे मुझमें कुछ नहीं आता, उनका प्रभाव मुझमें कुछ नहीं पड़ता, मैं ही अपनी कल्पनाएँ बनाऊँ तो मैं ही अपने अपराधोंसे प्रभावित

होकर क्लेश पा लेता हूं, दूसरा मुझमें कुछ प्रभाव नहीं डालता। कोई छोटा पुरुष किसी बड़ेके सामने प्रभावित हो जाय और अपने आपको भयभीत कर ले तो किसी बड़े पुरुषने उसपर नहीं प्रभाव डाला, उसमें डर नहीं उत्पन्न किया, किन्तु वह स्वयं ही ऐसी योग्यता वाला था, अपने आपमें विकल्पोंको उत्पन्न कर सकने वाला था, कि वह अपनी ही योग्यता से अपने आपमें ही ऐसा प्रभावित हो गया कि भयभीत हो चला। कोई किसी दूसरेको कष्ट नहीं देता, खुद अर्थ लगाते हैं और कष्ट पाते हैं। जैसे कभी कोई बालक कुछ अपराध कर दें चीज तोड़-फाड़ दें, या कुछ चीज चुरा लें तो उन बालकोंको खड़ा करके कोई समझदार यह कहे कि देखो जिसने चुराया हो वह अपना नाम बता दे नहीं तो हम ऐसा मंत्र पढ़ेंगे कि अभी सामने आ जायगा कि इसने चुराया है। इतनेपर भी कोई बालक न बताये तो अच्छा बैठ जाओ, देखो हाथ सब नीचे रखे रहना, हाथ ऊपर न उठाना, हम मंत्र पढ़ेंगे और जब हमारा मत्र पूरा हो जायगा तब हम मंत्र पढ़कर ऊँचा शिर उठायेंगे उस लड़केकी चोटी अपने आप खड़ी हो जायगी। झूठमूठका उसने मत्र पढ़ा तो जिसने चुराया है वह अपने हाथसे अपनी चोटी देखने लगता है। तो किसने प्रभावित किया उस बालकको? उसकी कल्पनाने, उसके ही अपराधने उसको प्रभावित कर लिया। तो ये जगतके प्राणी अपने अज्ञानभावमें बसकर अपनी ही कल्पनाओंसे प्रभावित होकर चारों ओरसे क्लेश पाया करते हैं, वे ध्यानकी क्या सिद्धि करेंगे। इसको उचित है कि पहिले वस्तुके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करे तो यह अपने संकटोंको दूर कर सकेगा।

दह्यमाने जगत्यस्मिन् महता मोहवह्निना।
प्रमादमदमुत्सृज्य निष्क्रान्ता योगिनः परम् ॥२८८॥

योगियोंकी मोहाग्निसे निष्क्रान्तता—पूर्व छन्दमें यह बताया था कि ये संसारके प्राणी प्रमादसे पर्यायमें मूढ होकर दुःखरूपी अग्निसे पीड़ित होकर चारों ओरसे जल रहे हैं। अब इस छंदमें यह कह रहे हैं कि ऐसे महान मोहरूपी अग्निसे जलते हुए इन प्राणियोंमेंसे केवल योगी ही प्रमादको छोड़कर निकलते हैं अन्य कोई नहीं निकलता। इस सारे संसारमें प्रायः सभी पुरुष मोहरूपी आगसे जल रहे हैं। जैसे मनुष्योंमें मोहकी प्रवृत्ति देखी जा रही है ऐसे ही पशुओंमें पक्षियोंमें भी मोहकी प्रवृत्ति होती है और असञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय तक अन्य विकलत्रयोंमें उनके आहार, निद्रा, भय, मैथुनकी वेदना लगी रहती है। वे भी अपने पाये हुए शरीरमें मदस्त रहते हैं, ऐसा चारों ओरसे यह संसार दुःखरूपी अग्निसे जल रहा है। इस जलते

हुए जगतसे केवल वे ही योगीश्वर निकल सकते हैं जो अपने स्वरूपकी उपलब्धिमें उत्साह रखते हैं और निर्मोह होकर आत्मध्यानमें रत हुआ करते हैं। जैसे कहीं बाड़ेमें आग लग गयी हो जिसमें बहुतसे पशु घिरे हों, और उनमेंसे कोई पशु निकल आये तो उसका आप बड़ा भाग्य कहते हैं कि नहीं। ऐसे ही समझिये कि यह सारा संसार जिसमें चारों ओर ये समस्त प्राणी दुःखरूपी अग्निसे जल रहे हैं। सप्तम नरकके नीचेसे लेकर जहाँ सिद्धभगवान विराज रहे हैं वहाँ तक चारों ओर सर्वत्र लोकमें ये संसारी प्राणी मोहकी आगसे जल रहे हैं। इनमेंसे कोई बच निकले, शान्त निराकुल बन सके ऐसा कोई कर सकता है तो वह योगी पुरुष ही कर सकता है। जिसके उपयोगका लगाव अपने आत्माके स्वभावकी ओर हो गया है, जिसने सम्यग्ज्ञानका प्रकाश पाया है, समस्त वस्तुओंको जो स्वतन्त्र-स्वतन्त्र निहार सकता है ऐसे योगीश्वर ही इस जलते हुए जगतसे निकलने में समर्थ होते हैं।

न प्रमादजयं कर्तुं धीधनैरपि पार्यते ।
महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासेऽतिनिन्दिते ॥२८६॥

गृहवासकी निन्दितता—यह गृहवास यह घरका रहना अनेक कष्टोंसे भरा हुआ है। सो प्रायः जो घरमें रहते हैं उन्हें अनुभव ही है। कोई एक जातिका कष्ट है क्या? परिवारमें कोई कैसा कष्ट है कोई कैसा है। कोई प्रतिकूल है, किसीपर कैसा ही गुस्सा आता है, कोई रोगी है, कोई दरिद्र है, अनेक प्रकारके संकट इस गृहवासमें समाये हुए हैं। इस गृहवासके ही कारण लोगोंसे रिश्ता नाताका सम्बंध भी बनता है, और उस रिश्ता नाता में भी अनेक प्रतिकूलताएँ आती रहती हैं। यह मनुष्य गृहवासी होकर अनेक प्रकारके कष्टोंको झेल रहा है। इसीलिए इस गृहवासको अतिनिन्दित बताया है। आचार्यदेव कहते हैं कि यह गृहवास निन्द्य है। इसमें हितका अवसर है नहीं। और, विपदा, विडम्बनाएँ, सक्लेश ये निरन्तर बने रहते हैं। क्या है, बच्चे हैं तो वहाँ पर अपनी अज्ञान और अशक्तिसे क्लेश पाते हैं। उन्हें यह क्लेश सताता रहता है कि हम बड़े न हुए, इन लोगोंकी कैसी आज्ञा चलती है। हम जो चाहते हैं उसे यह नहीं मानते हैं। बड़ोंकी सामर्थ्यताको, बड़ोंकी प्रभुताको देखकर वे बालक ललचाते रहते हैं, हम न ऐसे अधिकारी बने। और जब जवान होते हैं, अधिकारी बनते हैं तो जो उन पर संकट आता है उसे सभी जानते हैं। ऐसा लगता है कि ये बालक लोग बड़ी मौजमें हैं, इन्हें कोई चिन्ता नहीं, खाना खेलना यही इनका एक काम है। यहाँ देखो सैकड़ों चिन्ताओंमें शल्योंमें पड़े रहते हैं। जवान होनेपर

और-और प्रकारके अनेक कष्ट आते है। सबकी सुनना, सब परिस्थितियों में गुजारा करना अनेक व्यसन लगे हैं। जवानी निकली, वृद्धावस्था हुई तो जिसने बालपनमें अथवा जवानीमें ज्ञानार्जन नहीं किया, ज्ञानदृष्टि नहीं की, ज्ञानध्यानका अभ्यास नहीं किया उसकी बुढापेमें बहुत बुरी हालत होती है। एक तो शरीरकी कमजोरीके कारण अनेक बाधाएँ होती ही हैं, चलते, उठते, खाते कुछ भी करते नहीं बनता, और फिर मनकी उड़ान, दूसरोंको बढ़िया लड्डू पूड़ी हलुवा खाते देखते हैं और खुदके दांत नहीं है अथवा पचा नहीं सकते तो निरख-निरखकर मन ही मन कुढ़ते हैं। तो मनका क्लेश है, शरीरका क्लेश है और फिर बुढापेमें लोग उपेक्षा कर देते हैं। जानते हैं बालक लोग अथवा उनके घरकी बहुवें कि यह तो वृद्ध है, किसी काम तो आता ही नहीं है और वह वृद्ध अपनी कषायोंके कारण जैसा चाहे बकता है तो वह आगमें और घी डालने जैसा काम करता है। तो वहाँ भी बड़ी दुर्दशा है। इस गृहवासमें सर्वत्र विडम्बनाएँ हैं।

गृहवासमें ध्यानसिद्धिकी सभवता न होनेसे गृहवासकी त्याज्यताका भाव—बड़े-बडे बुद्धिमान गृहस्थ भी इस प्रमादको जीतनेमें समर्थ नहीं हो पाते। अर्थात् वे बाह्यपदार्थोंके विकल्पोंसे छूटकर अपने आपके अतस्तत्त्वके अनुभवके लिए उत्साहित बन सकें ऐसी बात नहीं बनती। इस कारण गृहस्थावस्थामें ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। बड़े बड़े बुद्धिमान पुरुष भी इस गृहस्थीके कारण होने वाली चिन्ताओंसे छुटकारा पानेमें असमर्थ हैं। जब तक चित्त प्रसन्न न हो, प्रसन्नके मायने निश्चिन्त न हो, तब तक उस चित्तमें अन्तस्तत्त्वका ध्यान नहीं हो सकता। यह प्रसग ध्याता कैसा होना चाहिए, उसके वर्णनमें चल रहा है। ध्याता गृहस्थ नहीं हो पाता, यह थोड़ा थोड़ा कर तो सकता है मगर ध्यानकी सविधि साधना गृहस्थके द्वारा नहीं हो पाती, इसे साधुजन करनेमें समर्थ हैं और इस ध्यानके द्वारा इस जाज्वल्यमान ससारसे निकलनेमें ये योगी ही समर्थ हैं। गृहस्थका श्रावक भी नाम है, उपासक भी नाम है, गृहस्थका तो अर्थ है जो घरमें रहता है। यह तो सामान्य शब्द हैं। जो घरमें सही व्यवस्था बनाकर रहता है और जीवन यापन करता है उसे गृहस्थ कहते है। यह गृहस्थ जब धर्मचर्चाओंके सुननेमें अधिक उपयोग लगाता है और इसे धर्मचर्चा भी सुहाती है, अपनी शक्तिके माफिक विवेक करके योग्य क्रियाओंमें भी लगता है तब इसका नाम हुआ श्रावक। उपासक— जो योगी धर्मकी उपासना करे, मैं भी योगी बनूँ, मैं भी निर्ग्रन्थ होऊँ, मैं भी सर्व सकल्पविकल्पोंसे छूटकर केवल आत्मध्यान करूँ, इस प्रकारकी जो

भावना रखता है उसे कहते हैं उपासक। जो उपासक नहीं है वह वास्तविक भावनेमें गृहस्थ श्रावक कुछ नहीं है। यों तो अन्य जीव भी अपनी-अपनी आजीविकाकी पूर्ति कर लेते हैं। सबका एक प्रधान कर्तव्य है। यद्यपि गृहस्थ ध्यानका पात्र नहीं है, ध्यानसिद्धिमें समर्थ नहीं हो पाता लेकिन यह उत्कल भावना रखनी ही चाहिए कि मैं कब इस जंजालको छोड़कर केवल आत्माके ध्यानमें अपना समय बिताऊँ, उस ही परमयोगका आलम्बन लूँ, इस प्रकार इस परमयोगक निर्विकल्प योगकी उपासनाका भाव प्रत्येक गृहस्थक होना चाहिए।

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थिति ॥२६०॥

विवेकी गृहस्थके गृहत्यागकी भावनासे श्रेष्ठता--गृहवासमें रहकर इतनी उलझनोंमें इस चपल मनको वश कर सके और निज सहज ज्ञानस्वभावकी उपासनामें अपना समय लगा सके यह बात नहीं बन सकती है, इस कारण चित्तको शान्त करनेके लिए सम्यग्दृष्टि पुरुषोंने गृहवासको त्याग दिया है। गृहस्थ रहकर भी गृहत्यागकी भावना रहे तो उसका नाम सद्गृहस्थ है। चाहे वह इस भवमें न त्याग सके लेकिन चित्तमें तो यह बात बनी रहे कि यह घर त्यागनेके ही योग्य है। जैसे एक अकबर बीरबलका चुटकुला आया है कि भरी सभामें अकबरने बीरबलको नीचा दिखानेके लिए कहा कि बीरबल आज रातको हमें ऐसा स्वप्न आया है कि हम और तुम दोनों घूमने जा रहे थे, रास्तेमें दो गड्ढे मिले, एकमें शक्कर भरी थी और एक में गोबर मलमूत्र इत्यादि। तो हम तो गिर गए शक्करके गड्ढेमें और तुम गिर गए गोबर विष्टाके गड्ढेमें। तो बीरबलने कहा महाराज जरूर देखा होगा ऐसा स्वप्न। हमने भी बिलकुल यही स्वप्न देखा कि हम तुम दोनों घूमने जा रहे थे। रास्तेमें दो गड्ढे मिले, सो शक्कर गड्ढेमें तो तुम गिर गये, गोबर विष्टा मूत्र आदिके गड्ढेमें हम गिर गए, पर इससे आगे थोड़ा और देखा कि हम तो तुम्हें चाट रहे थे और तुम हमें चाट रहे थे। अब देखा बीरबलने तो शक्कर चाटा और अकबरको मलमूत्र विष्टा आदि चटाया। यों ही समझिये कि घरमें रहकर भी अगर गृहत्यागमें हित है ऐसी भावना है तो वह गृहस्थ सद्गृहस्थ है। नहीं तो समझिये कि उसका बड़ा बुरा हाल है। घरमें ही रहता है और घरमें ही रहनेमें हित है, सुख है, मौज है, ऐसी भावनासहित बना रहे तो उसकी बड़ी खोटी परिस्थिति है। लेकिन गृहवासमें भी धर्मकी एकदेश साधना है। गृहस्थीमें रहकर मनुष्य कितने ही विकारोंसे दूर रह सकता है और उनमें मुख्यतासे समझ

लीजिए कामविकारकी बहुलतासे दूर रह सकता है अर्थात् केवल अपनी स्त्रीमात्रमें सन्तोष वृत्तिसे रहता है तो अन्य स्त्री जनोंका विकल्प तो हट गया। तो कितने ही कामविकार उसने दूर किया। दूसरे अपनी उदरपूर्तिके लिए वह यत्र तत्र दैन्य भाव न करेगा किन्तु अपने एक अर्थ पुरुषार्थ में योग्य न्यायकी कमाई करके शौर्यसहित रहेगा। इसमें भी दीनताका भाव नहीं आता। यद्यपि जो गृह त्याग देते हैं उनमें भी दीनताका भाव नहीं है, उनमें भी ज्ञानबल है, इस कारण ज्ञानबल इतना न बढ़े, वैराग्यबल इतना न बढ़े और गृह भी त्याग दे तो उसकी परिस्थिति दीनताकी ओर चलेगी। गृहस्थावस्थामें रहकर कितनी ही साधना कर सकते हैं। देवपूजा, गुरुवन्दन, ज्ञानार्जन यथाशक्ति संयम, दान, यथाशक्ति इच्छा निरोध इन ६ आवश्यकोंको करके यह गृहस्थ भी अपना जन्म सफल कर सकता है। लेकिन जो गृहस्थ इस ही को अपना आखिरी कर्तव्य मान ले तो उसका आशयमें विषयसमागम ही हितरूप है इस कारण वह सद्गृहस्थ नहीं कहला सकता। गृहवासमें भी रहकर गृहत्यागकी भावना रहनी चाहिए। गृहत्याग वह कर सके अथवा न कर सके लेकिन अन्तरमें गृहत्यागकी उत्कट भावना रहनी चाहिए।

भावनाका स्वातन्त्र्य—भावनाका सम्बंध आत्मासे है, परिस्थितिसे नहीं है। कोई कहे वाह—हम गृहस्थकी परिस्थितिमें रहते हैं, और भावना करें साधु धर्मकी तो यह तो मायाचार हो जायगा। रहते तो हम कहीं हैं और सोचते हैं कुछ। अरे मायाचार वहाँ होता है जहाँ दिखाते तो हैं अच्छा और सोचते हैं बुरा। जैसे कोई कहने लगे कि मायाचारका तो यह लक्षण कहा है कि मनमें कुछ और है, वचनमें कुछ और है और करे कुछ और। जैसे अनेक धूर्तजन मनमें कुछ बात रखते हैं—विरोध, ईर्ष्या, विनाशकी और वचनसे बड़ी चापलूसीके मीठे वचन बोलते हैं और शरीरसे अहितका उद्यम करते हैं तो यह तो मायाचार है। वाह सम्यग्दृष्टि भी तब तो मायाचारी बन गया। मनमें है मोक्षकी बात, गृहत्यागकी बात और रह रहा है गृहस्थीमें, मनमें तो सबसे विरक्त रहनेकी बात है और परिजनोंसे मीठा भी बोल रहा है, राग भरी बातें बोलता है, पर यह मायाचार नहीं है। जहां वचन और कायकी क्रियावोंकी बातसे भी ऊँची बात मनमें विराजी हो उसे मायाचार नहीं कहते हैं। कायसे, वचनसे तो भली बातें करता हो और मनमें खोटी चिन्तना रखता हो उसका नाम मायाचार है। यह अपनी भावना है। संसारसंकटोंसे मुक्ति पानेकी भावना रखने वाले पुरुष अपनी शक्तिभर शरीर और वचनसे भी यत्न तो रखते हैं पर

नहीं सफल हो पाते। कुछ बाधाएँ हैं उसे अपनी ओरसे भी। तो इसका नाम मायाचार नहीं है। सद्गृहस्थ वह है जो गृहत्यागमें हित है ऐसा बनाए। तो गृहस्थ गृहवासमें रहकर गृहस्थीके द्वारा यह चचल मन वश नहीं किया जा सकता, इस कारण चित्तकी शान्तिके लिए सज्जन पुरुषोंने गृह-वासका भी परित्याग किया है। बड़े-बड़े तीर्थंकर, चक्रवर्ती बड़े बड़े अन्य महाराजाधिराजने इन समस्त वैभवोंको तृणवत् असार जानकर क्षणभर में त्याग दिया तब उनके भावना जगी। तो यह बड़ी निर्मोहताकी बात होगी। जैसे गोबरके गड्ढेमें गिरकर भी बीरबल शक्करका स्वाद ले रहा था, इसी तरह गृहस्थावस्थामें रहकर निरारम्भ, निर्विकल्प इस अध्यात्मयोग की भावना रखता है वह इस योगका कुछ न कुछ स्वाद प्राप्त कर लिया करता है।

प्रतिक्षण द्वन्द्वशतार्तचेतसा नृणा दुराशापहपीडितात्मनाम्।
नितम्बिनीलोचनचौरसकटे गृहाश्रमे स्वात्महित न सिद्ध्यति ॥२६१॥

गृहाश्रमके आश्रमत्वका कारण—सैकड़ों प्रकारके लड़ाई झगड़ोंसे दु खी चित्त गृहस्थावस्थामें रहकर अपने हितकी सिद्धि नहीं कर सकता। जहाँ धन आदिकके लाभ हानिकी निरन्तर चिन्ता शल्य बनी रहती है, जहाँ खोटी खोटी आशाओंकी पीड़ा निरन्तर बनी रहती है, जहा स्त्रीके रागसे चित्त वासित बना रहा करता है ऐसे गृहस्थाश्रममें आत्महितकी सिद्धि नहीं होती है। गृहस्थका आश्रम गृहत्यागकी भावनाके कारण कहा गया है। घर में रहे और खूब मौजसे जैसे चाहे न्याय अन्यायका विवेक न कर धनको जोड़कर खूब भोगोंमें आनन्द माने ऐसी बातोंसे इसको गृहस्थाश्रम नहीं कहा गया है। हा घरवासी जरूर है। पर गृहस्थाश्रमकी शोभा गृहत्यागकी भावनासे होती है। गृहस्थ भी यदि चाहें तो विशेषतया आजकलके जमानेमें मोक्षमार्गके लिए अपना अच्छा कदम रख सकते हैं। प्रथम तो गृहस्थका यह निर्णय होना चाहिए कि मेरे आत्माका इन वैभव समागमों से कुछ प्रयोजन नहीं है। यदि ससारके इन मलीमस दु खी मनुष्योंने इस झूठी पर्यायका झूठा नाम गा दिया अथवा लोगोंमें कुछ मेरी कीर्ति बने तो इससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है। किसलिए धनका संग्रह करना। गृहस्थको यह मनमें होना चाहिए कि धनको जोड़ते रहनेका मेरे लिए कोई प्रयोजन नहीं। कौनसी सिद्धि है। पत्थरोंको जोड़कर रख जाय, मर जाय इसमें मेरे आत्माको कौनसी सिद्धि है। खूब शान्तचित्त होकर जरा विचा-रिये तो सही, क्यों अपने इस अमूल्य दुर्लभ मनुष्य पर्यायके अवसरको व्यर्थके सकल्पविकल्पोंमें खोया जा रहा है। कौन किसका पुत्र है, कौन

किसकी स्त्री है, और फिर वे पुत्रादिक आत्मा किसलिए हमारा क्या कहा कर सकेंगे। बात तो आखों सामने देखते हैं। मोहवश पिता सरक्षक अपने पुत्रोंको बहुतसे बहुत समर्थ बनानेमे धनी बनानेमें उनके लिए धनसचय करनेमे सारे जीवनभर श्रम करते हैं। धर्मसाधनामें अपने जीवनभर श्रम करते हैं। धर्मसाधनामें अपने जीवनके अमूल्य क्षण न बिताकर कुटुम्बियोंकी सेवामें अपना सारा समय बिता डालते हैं। देख लो सर्वत्र दृष्टि लगाकर, लोग धन वैभवके पीछे परेशान हैं। अरे धन वैभव तो उदयानुसार मिलता है। अपनेमें वह कला जगनी चाहिए कि जो हमारी आज की स्थिति है, जो कुछ आज पासमें है, उसके भीतर हम धर्मके लिए दानके लिए निकालकर शेषमें अपना गुजारा कर सकते हैं। कम आय है तो हमें किसे दिखाना है कि मैं बड़े साज शृङ्गार वाला हू। कोई आपका ईश्वर है क्या, जिसके हाथमें आपका भविष्य हो, आपकी जैसे चोटी हिलाये तैसा नाचना पड़े, ऐसा कोई यहां है क्या? इस दुनियाके भीतर कौनसा जीव क्या सुधार कर देगा, कौनसी शान्ति दे देगा। शान्ति तो खुदकी ही ज्ञान की कलासे मिलेगा, धनसे न मिलेगा, लोगोंसे न मिलेगा तब इतना तो निर्णय होना ही चाहिए कि धनसंचय करना यह लक्ष्य बनाना मेरे लिए बेकार है। फिर अपने घरमें रहें, जो करते हैं करें, इसमें भी अपने हित के लिए बड़ी प्रेरणा मिलेगी। आत्मध्यानमें सफल होनेका अवसर भी प्राप्त होगा, आत्मध्यान ही मेरा शरण है, उससे ही मेरा भला है। जगतमें किसी अन्यसे मेरा हित नहीं है ऐसा निर्णय रखकर गृहस्थाश्रममें रहकर धर्मपालन करना चाहिए।

निरन्तरार्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने।
अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मना नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति ॥२६२॥

ज्ञानीका गृहवासदोषचिन्तन—गृहस्थाश्रममें उत्तम ध्यान कैसे सम्भव हो सकता जहा पर निरन्तर पीड़ारूपी आर्तध्यानका दाह बना रहता है उस गृहवासमें उत्तम ध्यान कैसे बने। जब कि साधु संत पुरुष अपने मन, वचन, कायकी क्रियाओंको भी अनुरक्त न करके अर्थात् उन सभी क्रियाओं में रहकर भी उनसे विरक्त अपने आपके स्वभावका आदर करते हैं। तो भला गृहस्थ धर्ममें गृहवासमें गृहस्थाश्रममें रहकर यदि कोई गृहस्थीका आनन्द माने और गृहस्थके धर्मके आचरणमें ही सन्तुष्ट हो जाय तो उसका यह विवेक नहीं कहा जा सकता। सद्गृहस्थ तो वह है कि गृहवासमें रहकर गृहवासके दोषोंका चिन्तन करे और यह मेरे हितकी चीज नहीं है। मैं कब गृहवाससे अलग होकर एक

आत्मामें निवास करूँ और आत्मध्यानका पात्र बनूँ। ऐसी भावना जिसके हुई है वह सद्गृहस्थ है। जैसे अक्सर किन्हीं वृद्ध पुरुषोंसे कोई पूछे कि भाई सब राजी खुशी तो हैं ? तो वह वृद्ध पुरुष क्या कहने लगता कि बड़ा मौज है, लड़के बड़े भले हैं, बहुवें बड़ी सुपात्र हैं बच्चे भी बड़े आज्ञाकारी हैं, इस प्रकार समागमोंमे जब मन रम रहा है तो ऐसे पुरुषोंके ध्यानकी कैसे सिद्धि हो सकती है। अच्छेसे अच्छे समागमसे भी क्या हित है ? समागमके बीच पड़े हैं, परके आकर्षणके वातावरणमें है, काहेकी कुशलता है, इस प्रकारकी दृष्टि होनी चाहिए। तो जो गृहवास निरन्तर आर्तध्यानकी अग्निकी दाहसे दुर्गम है, बसनेके अयोग्य है उस गृहवासमें ध्यानकी सिद्धि नहीं है।

गृहवासमें साधारण ध्यानकी सभवता—गृहवासमे बिल्कुल ध्यान न हो सकता हो यह बात तो नहीं है। किन्हीं-किन्हीं रूपोंमें ध्यान प्रशस्त चलता है लेकिन उत्तम ध्यान बन जाय यह गृहवासमें सम्भव नहीं है। जितने भी अधिकसे अधिक शुभ कार्य बन सकते है बना लेंगे, पर मोक्षमें जिन्हें लाभकी मनमें उत्सुकता हुई ऐसे पुरुषोंको तो गृहवास तजकर ही जहाँ स्वतन्त्रता और अपने आपके भीतर सीमाकी स्वच्छन्दता आ जाय ऐसा यत्न करना चाहिये। ऐसा जो आचरण कर सके उसके ध्यानकी सिद्धि होती है। ज्ञानी गृहस्थ बालकको खिलाता हुआ भी क्या खिला रहा है ? वह तो उन झंझटोंसे विरक्त होनेका अलग होनेकी बात सोच रहा है। संसारमे जिसको जितने अधिक सुहावने समागम मिले हैं उसको उतनी ही अधिक विपदा छायी हुई है, निमित्त दृष्टिसे कहा जा रहा है। अधिक सुहावना कोई होगा उसकी ओर आकर्षण है तब आत्माकी बेसुधी अधिक बढ़ी, अपने आपसे च्युति अधिक हुई तो कोई तत्त्वसिद्धि नहीं है। मन-मोहक समागम मिलना भी दु खके लिए है। अतएव ज्ञानी गृहस्थ किसी भी समागममें चित्त नहीं रमाता। क्या करे इस घरको, क्या करे इस परिवार को, क्या करे इस यशको, इनसे कौनसी मेरी सिद्धि हो जायगी। यह मैं कुछ दिनके लिए इस नरभवमें हू, इसे छोड़कर जाना होगा। इस जीवनमें भी किन्हीं भी दूसरसे मेरेको कोई सहयोग नहीं मिलता। हम ही अपने ज्ञानको बिगाड़ लें तो दु खी होंगे, हम ही अपने ज्ञानको सम्हाल लेंगे तो सब क्लेश मिट जायेंगे। मेरी ही कलापर मेरा सुख दु ख निर्भर है, दूसरे का किया हुआ मेरेमें कुछ नहीं है। ज्ञानी गृहस्थका जहाँ यह निर्णय है वहाँ बाहरी पदार्थोंमें कैसे रम सकेगा। जो रमेगा उसके उत्तम ध्यान नहीं बन सकता। जैसे गृहवासमे कामक्रोधादिक कुवासनाओंका अंधकार छाया

है जिस अन्धकारके कारण ज्ञाननेत्रकी दृष्टि विलुप्त हो गई है ऐसे गृहमें उत्तम ध्यान कैसे सम्भव है।

गृह नाम भावगृहका है। जिसका भाव घरमें रहनेका नहीं है वह द्रव्यघरसे कब तक चिपका रह सकता है, इसलिए जो घरमें रुचिपूर्वक निवास करता है उसके भावमें घर तो बसा ही है। जैसे कुछ लोग जब कहने लगते हैं कि अजी हमें मोह कुछ नहीं है। हम तो जरा बच्चोंकी दया करते हैं, ये कहाँ जायेंगे, कैसे रहेंगे क्या होगा इनका। मुझे मोह कुछ नहीं है। भला यह तो बतलावो कि ऐसे ऐसे सम्भवत लाखों और करोड़ों बच्चे होंगे उनपर दया क्यों नहीं उत्पन्न होती। तब कुछ रागका लगार रहा ना। जब प्रद्युम्न कुमार विरक्त हुए और सभामेंसे उठकर आये, स्त्रीके पास मिलने गए, तो स्त्रीसे कहा कि हम विरक्त हुए हैं, घरसे जाते हैं, तो स्त्रीने यही तो उत्तर दिया था कि अभी आप पूर्ण विरक्त नहीं हुए, अब चाहे हो जावो, यह बात अलग है। यदि पूर्ण विरक्त हुए होते तो हमारा विकल्प क्यों होता कि इससे मिलकर जायें। तो लगावकी बात किन-किन तरीकोंसे फिर होती है, सो यह भी तो परखते जाइये।

गृहवाससे ध्यानकी सिद्धिकी अशक्यताका वर्णन—काम क्रोधकी कुवासनाएँ जहाँ छायी रहें ऐसे गृहवासमें आत्महितकी कैसे सिद्धि है। जहाँ अनेक चिन्तावोंका ढेर बना रहता है, जहाँ विकारोंका ढेर बना रहता है ऐसे मनुष्योंके सहवासमें रहते हुए ध्यानकी कैसे सिद्धि हो सकती है। जो विवेकशील पुरुष हैं वे प्रत्येक कथनसे लाभ उठाते हैं। गुणोंका वर्णन चले चाहे दोषोंका वर्णन चले, दोनोंसे विवेकी पुरुष लाभ उठाता है। प्रशंसा की, यश की भी बात ज्ञानी पुरुषको लाभदायक होती है और अपमान की निन्दा की, दोष निरूपणकी बात भी ज्ञानीको लाभदायक होती है। कैसा ही समागम मिले उसमें भी ज्ञानी पुरुष सदुपयोगसे लाभ उठाता है। जिसमें लाभ उठानेकी योग्यता है वह सभी परिस्थितयोंसे लाभ उठाता है, और जो लाभ वाली बात है ऐसी परिस्थितियां भी अज्ञानीके हों तो वह उसका लाभ नहीं उठा सकता। गृहस्थाश्रममें अनेक गुण भी हैं अपेक्षाकृत। और गृहवासी पुरुषोंमें भी गुण होते हैं, उन गुणोंको सुनकर अज्ञानी तो फूल जायगा, मेरी तो बड़ी तारीफ हो रही है और ज्ञानी शर्मसे झुक जायगा। इतनी बड़ी तारीफके लायक तो हम हैं नहीं जितने कि गुण बखान किए जा रहे हैं। हमको इस ओर ही बढ़ना चाहिए, ज्ञानी यों चिन्तन करेगा। दोषोंका वर्णन हो तो अज्ञानी ईर्ष्या विरोध करके आग बबूला बन जायगा, उसका विघात करनेकी मनमें सोचेगा। ज्ञानी क्या चिन्तन करेगा कि यह

पुरुष दोषनिरूपण करके हमको सावधान ही तो कर रहा है, हमें ऐसे दोष न करना चाहिए। कोई कुछ लोगोंके सामने हमारी प्रशंसा गा दे तो उससे हमारा क्या लाभ है। ये सब मायारूप हैं, ये सब भी तो अपने आपके ईश्वर नहीं बन पा रहे हैं, अपने आपको समर्थ नहीं पा रहे हैं, ये सब भी दीन होकर संसारके जन्ममरण सुख दुःखके संकट भोग रहे हैं। सब स्वप्नवत् हैं, लेकिन दोष कहकर इसने हमें सावधान किया। ज्ञानी पुरुष किन्हीं भी परिस्थितियोंमें जैसे आत्महित हो वैसी बात निकाल लेता है। यहाँ गृहस्थाश्रमकी निन्दा की जा रही है। इस गृहवासमें किनको कसे सिद्धि है। सो विचारना चाहिए कि बात तथ्यकी है, हम छोड़ सकें अथवा न छोड़ सकें पर गृहवास छोड़नेमें ही हित है ऐसा निर्णय रखें तो ये दोष आत्महितमें साधक हो सकते हैं। यह ध्यानका प्रकरण है। ध्याता कैसा होना चाहिए यह प्रसंग चल रहा है। तो ध्याता जैसा प्रशंसनीय होता है उसका तो वर्णन एक छन्दमें किया है। अब ध्यान कौन नहीं बन सकता, किस ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ऐसे जीवोंका पुरुषोंका वर्णन किया जा रहा है कि यह गृहवास ध्यानके अयोग्य है। गृहस्थको गृहवाससे पृथक् होनेकी भावना रखना चाहिए और जो साधु पुरुष गृहसे विरक्त हो गए थे, गृहको त्याग चुके थे उन साधुवोंको गृहत्यागके दृढ़ताकी भावना होना चाहिए। हमने जो किया सो ठीक किया, अब गृहकी कल्पना मनमें न आनी चाहिए। इस तरह इस निरूपणसे गृहस्थ भी शिक्षा ग्रहण करते हैं और साधु भी शिक्षा ग्रहण करते हैं।

विपन्महापङ्कनिमग्नबुद्धय, प्ररूढरागज्वरयन्त्रपीडिता।
परिग्रहव्यालविषाग्निमूर्छिता विवेकवीथ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी ॥१६३॥

परिग्रहमूर्छितोंका विवेकवीथीसे स्खलन—ऐसा गृहस्थ जिसका अभी वर्णन किया जायगा वह विवेकरूपी कीलीमें चलता हुआ स्खलित हो जाता है। जैसे अशक्त वृद्ध पुरुषके पैर जगहपर ठिकानेसे टिक नहीं पाते हैं और जहाँ रुकना चाहिए उस स्थानसे स्खलित हो जाते हैं। अथवा शरीरके बल से हीन पुरुष कमजोर पुरुष जैसे अपने जाने योग्य मार्गसे स्खलित हो जाते हैं ऐसे ही इस गृहस्थकी बात ले लीजिए। जो गृहस्थ सम्बंधी विपत्तियोंके महान कीचड़में फँसे हैं जिनकी बुद्धि गृहस्थीकी चिन्ता और शल्यमें ही फँसी रहती है वह पुरुष विवेककी पाठिमें चल नहीं सकता है। गृहस्थावस्थामें यदि कोई रमण करे, विश्रामसे रहे, मौजसे रहे तो वह भी विपदा और चिन्तामें रहे वह भी विपदा या तो हर्ष मानेगा इस सुखको पाकर या खेद मानेगा। हर्ष माने वह भी विपदा

और खेद माने तो वह भी विपदा। पर जो इस समागमके ज्ञाताद्रष्टा रहनेका यत्न रखते हैं उन्हें न हर्ष हो न खेद हो। ऐसी ज्ञानकी ज्योति प्रकट होती है। तो वह पुरुष गुप्त ही गुप्त कल्याण कर लेता है। जिसकी बुद्धि गृहजालकी विपत्तिरूपी अंधकारमें निमग्न है वह पुरुष भ्रष्ट हो जाता है। जो बढ़े हुए रागरूपी ज्वरयत्रसे पीड़ित हैं अर्थात् रागसे रंग गये हैं अहर्निश जिनपर राग रहे, जो रागके विषय हैं ऐसे मित्रजन या अन्य-अन्य प्रकारकी परिस्थितियां ये ही चित्तमें समायी रहती हैं ऐसे पुरुष विवेकसे स्खलित हो जाते हैं। जो परिग्रहरूपी सर्पकी विष ज्वालासे मूर्छित हुए हैं अर्थात् परिग्रह सर्पने जिसे डस रखा है और इसके ही कारण जिन्हें हजारों बार कुछसे कुछ वचन निकालें, कुछ चेष्टा करें, अनेक विकल्प करें यों जो परिग्रहरूपी सर्प विषसे मूर्छित हुए हैं वे गृहस्थजन विवेककी गलीमें जलते हुए स्खलित हो जाते हैं।

श्रावककी हितोत्सुकता—श्रावक शब्द बना है सुनने अर्थ वाली धातुसे। जो धर्मकी बात सुने सुनाये सो श्रावक। श्रावकमें सबसे बड़ा गुण यह है। और, श्रोतामें सबसे बड़ा गुण यह होता है कि मेरी क्या कुशलता है, मेरा किसमें हित है ऐसी भावना रखकर सुनता है। तो धर्मचर्चा इस भावनाको रखकर जो श्रवणमें आता है उसका इस रूपमें फल होता है। हम पढ़ते समय, सुनते समय, चर्चाके समय सदैव सुहितका ध्यान रखना चाहिए। मुझे वह ज्ञानदृष्टि कैसे प्राप्त हो, जो ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जाननेमें लगा रहे ऐसी जाननेकी स्थिति मुझे कैसे प्राप्त हो यह तो कुशलता है आत्माकी। इस प्रकारके आत्महितका जिसे ध्यान होता है वही विवेकी है। यही विवेक है, यही शान्तिका मार्ग है, यही एक मात्र काज है। किसी भी कार्यके करनेका कोई ढग तो होता है नो, तो मुक्तिरूपी लक्ष्मीके पानेका एक ही ढग है—यह ज्ञानोपयोग। इस ज्ञानस्वरूप आत्माके अनुभवमें लग। ज्ञानस्वरूप आत्माके अनुभवमें लगनेका प्रथम उपाय यह है कि यह ज्ञान ज्ञानके ही स्वरूपका चिन्तन करने लगे। केवल जाननकी क्या स्थिति होती है। उस जाननके साथ जो रागद्वेष विकल्प उठते हैं उनको अलग करके अपनी बुद्धिमें रागद्वेषोंको भी अलग करके केवल जानन जाननकी स्थितिका उपयोग बनाया तो यों ज्ञानके ज्ञानसे इसे ज्ञानानुभव हुआ और ज्ञानानुभूतिसे ही आत्मानुभूति है। हम अपने आत्माका निर्विकल्प अनुभव प्राप्त कर सकें इसके लिए करना क्या होगा? हमें आत्माको जानना होगा।

स्वानुभूतिके लिये जाननविधि—हम इस आत्माको किस रूपसे जानें

कि हमें निर्विकल्प आत्मानुभूतिकी स्थिति प्राप्त हो, इस विषयको अब विचारें आत्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप है। द्रव्यसे यह गुणपर्यायका पिण्ड है, क्षेत्रसे यह असंख्यात प्रदेशात्मक है, इतना लम्बा चौड़ा फैला हुआ इसका आकार है। कालपरिणतियोंरूप है, और भावसे देखनेकी पद्धति दो प्रकारसे है, एक भेदपद्धति और एक अभेदपद्धति। भेदपद्धतिसे यह मैं आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्र आनन्द आदिक गुणरूप हू, और अभेदपद्धतिसे यह मैं आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र हू, अवक्तव्य हू, अभेद वक्तव्य नहीं हो पाता, किन्तु समझमें आये, अनुभवमें आये उसे यों संकेत करके तो समझ सकेंगे कि यह है आत्मा। पर मेरे सम्बधमें कुछ भी वचन बोलेगा तो वहीं वहां भेद प्रारम्भ हो जायगा। तो अभेदपद्धतिसे यह मैं आत्मा चित्स्वभावमात्र हू। अब यहाँ ५ प्रकारका ज्ञान हुआ। द्रव्यदृष्टिसे मैं कैसा हू, क्षेत्रदृष्टिसे, कालदृष्टिसे भेदरूप भावदृष्टिसे, अभेदरूप भावदृष्टिसे अब यह विचार करें कि हम आत्मासे इन ५ पद्धतियोंमें से किस पद्धतिसे जाने कि हमें शाश्वत आत्मानुभूति जगे। तो साक्षात आत्मानुभूति जगे उससे पहिले अभेद भावपद्धतिसे जाननेकी बात कही है। लेकिन इस प्रकारसे अभेदभावपद्धतिसे यह आत्मा अपनेको जान सके एतदर्थ सब पद्धतियोंसे आत्माका ज्ञान करना होगा। द्रव्यकी प्रधानतासे किया ज्ञान, लो मैं अनन्त गुण पर्यायोंका पिण्ड हू। अब गुण पर्यायापर झपटे रहें वे हैं नाना, नाना तत्त्वोंके जाननेमें डोलते रहें, फिर पाया क्या? फलकी बात कह रहे हैं। यद्यपि इन सब दृष्टियोंसे आत्माका ज्ञान होता है, परिचय होता है मगर साक्षात् आत्मानुभव बन सके उससे पहिले कौनसी दृष्टि आती है यह बात विचारी जा रही है, क्षेत्रदृष्टिसे देखो यह आत्मा इतना लम्बा असंख्यातप्रदेशी सारे देहमें फैला हुआ है। जानते रहो, इस प्रकार लम्बाई चौड़ाइका ज्ञान करनेपर आत्मानुभूति नहीं होती है। कालदृष्टिसे खूब परख लीजिए, ज्ञान तो हो जायगा आत्मा क्रोध परिणतिमें है, मान परिणतिमें है, मंदकषाय परिणतिमें है, सब परिस्थितियोंपर दृष्टि करते करते रहनेके उपायसे साक्षात् आत्मानुभूति नहीं हो पाती। शाश्वत भी है गुण लेकिन विविध गुणके रूपमें अपने आपको जब समझें मैं ज्ञानरूप हू, दर्शनरूप हू, तो अब कहानी बढ़ाते जाइये—यद्यपि शाश्वत गुण है लेकिन जहाँ भेद हैं, नानापन है ऐसा जिस ज्ञानका विषय बन रहा हो वह ज्ञान किसी एक जगह स्थिर रहेगा। जब हम अनुभवपद्धतिसे एक चित्स्वभाव पर दृष्टि करते हैं केवल जाननमात्र प्रतिभासस्वरूप निज आत्माकी सुध लेते हैं, उस समय इसके ज्ञानानुभूति बनती है और ज्ञानानुभूतिके रूपमें

यह आत्मानुभूति बनती है। वहाँ निर्विकल्प अनुभव हो सका। क्योंकि जो ज्ञानमें आया है वही ज्ञेय बन रहा है। जहाँ ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इन तीनोंकी एकता होती है वहाँ निर्विकल्पता जगती है। उत्तम चिन्तनामें अधिक देर तक गृहवासमें रहे यह सम्भव नहीं है। उत्तम ध्याता पुरुष निःसग हो, शान्तचित्त हो, मुमुक्षु हो ये सब बातें कही गई थीं। अब यह बताया जा रहा है कि कौनसा ध्याता अपने ध्यानकी सिद्धिमें सफल नहीं हो पाता, इस प्रकरणमें एक यह उत्सुकता जग जानी चाहिए कि हम रहते हैं घरमें, समागममें लेकिन ये हेय हैं, रमनेकी चीज नहीं हैं, ये लौकिक सुख मेरे लिए बेकार हैं, इस तरह इस गृहवाससे विरक्त होकर जो शाश्वत आत्मस्वभावकी ओर झुकते हैं वे पुरुष प्रशंसनीय ध्याता होते हैं।

हिताहितविमूढात्मा स्वं शश्वद्वेष्टयेद् गृही।
अनेकारम्भजैः पापैः कोषकारः कृमिर्यथा ॥२६४॥

हिताहितविमूढोंकी स्वविनाशिनी वृत्तिका समर्थन—जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही मुखसे तारको निकालता है और अपनेको ही उसमें वेढ़ लेता है इसी प्रकार हित अहितके विचारसे शून्य यह गृहस्थ भी नाना प्रकारके पापोंके आरम्भसे पापोपार्जन करके अपनेको पापोंके जालमें फँसा लेता है। गृहस्थजन अपनेको फँसा हुआ पाते तो हैं किन्तु वे अपनेको नाना कार्योंमें और जो करनेको पड़े हैं उनकी चिन्तावोंमें फंसा हुआ समझते हैं, किन्तु एक आत्माके सहज शुद्ध चैतन्यस्वभावके परिचयके बिना जो परतत्त्वोंमें अहंबुद्धि ममता करके पाप परिणाम किए जा रहे हैं, सो गृहस्थाश्रममें गृहस्थ अपने ही विकल्प बनाता है, अनेक आरम्भ करता है, अनेक परिग्रहोंमें रमता है और अपने आपको फँसा लेता है, इस कारण ध्यानकी पात्रता, मोक्षमार्गकी पात्रता विशेषरूपसे जिससे कि साक्षात् मुक्ति हो सके गृहस्थाश्रममे नहीं होती है। मनुष्योंको उत्तम लक्ष्य जरूर रखना चाहिए। मैं आत्मा हू, मुझे क्या करना है, मेरा किसमे हित है ऐसा अपने आपमें निर्णय जरूर रखना चाहिए। जो वर्तमान समागम हैं उनमें ही मौज मानकर रह जानेसे भविष्यमें क्या होगा? यह संसारका जन्म मरण। मान लो एक इस भवमें बड़े आराम और मौजसे रहे, लेकिन इससे क्या पूरा पड़ेगा। जन्म मरण तो लेना ही पड़ेगा और उन जन्म मरणोंकी परम्परा में कैसे कैसे देह धारण करने होंगे। प्रथम तो यही देख लीजिए कि अनेक पशु कैसे जोते जाते हैं, पीटे जाते हैं। जरा अपनको कहीं ऐसी परतंत्रता बन जाय तो कितना क्लेश होगा। जो सांखलोंसे बाँध जाते हैं, नाकमें नकेल लगायी जाती है कितना बोझ लादा जाता है और ऊपरसे पीटते हैं, फिर

भी खानेको भी भूसा दिया जाता है। वह भी समयपर मिले न मिले। कभी मनुष्य भूल गया पानी देना तो प्यासे हो खड़े हैं। जरा विशेष भूल गया तो प्यासे ही मर जाते हैं। यह सब क्या है। हम आपकी तरह ही तो जीव हैं। कैसी-कैसी दुर्दशा ये हैं। एक वर्तमानमें थोड़ेसे मौज और भोगके साधन पाकर इनमें ही रम जाना यही तो मूढताकी बात है।

जेतु जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी।
विना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥९९५॥

संयमके बिना रागादि वैरियोंपर विजय पानेकी अशक्यता— रागादिक शत्रुवोंकी सेना संयमरूपी शस्त्रोंके बिना सैकड़ों जन्म लेकर भी जीती नहीं जा सकती है। हम आपपर सबसे प्रबल रागादिक वैरियोंका आक्रमण है। सब पदार्थ हैं, अपने-अपने प्रदेशोंमें हैं, मैं अपने प्रदेशमें हू, अतएव मेरा कोई कुछ लग नहीं सकता। किसीका मैं कुछ हो नहीं सकता। सबकी अभेद्य अपनी-अपनी स्थिति है। सबका स्वरूप अकेला अभेद्य है, फिर भी यह आत्मा अपने आपके प्रदेशोंमें ही रहता हुआ ज्ञान द्वारा बाहरी पदार्थों की ओर आकर्षित होता है। यही है वास्तविक विपदा। यह बात जिसके नहीं हुई वही है वास्तविक अमीर। जो सम्यग्दृष्टि हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं, अपने आपके स्वरूपमें ही मग्न रहा करता है वह ही वास्तविक अमीर है। जैसे सट्टा खेलने वालोंके प्रति लोगोंकी यह धारणा रहती है कि अगर यह आज अमीर है तो भी इसका विश्वास क्या? जो एक रातभरमें ही गरीब हो सकता है, जिसका ऐसा व्यापार है उसका क्या विश्वास? आज अमीर है कहो कल कुछ भी न रहे। जुवा खेलने वालोंकी ही तरहसे समझ लीजिए कि जो आज हम आप लोगोंको पद मिला है, आर्थिक स्थिति है, जो भी समागम मिले हैं उनका कुछ भी विश्वास नहीं है कि कब तक अपने पास रहें। प्रथम तो ये सब पर हैं, भिन्न हैं, और फिर पुण्याधीन हैं। जब पुण्यका ही विश्वास नहीं कि कब तक साथ दे तो फिर इन पाये हुए समागमोंका क्या विश्वास। ऐसा जानकर सत्पुरुष रागादिक शत्रुवोंके जीतनेका उद्यम करते हैं।

आश्रयभूत व निमित्तभूत पदार्थोंपर हमारा अनधिकार होनेसे रागादिपर ही विजयकी शक्यता—ये बाह्यपदार्थ विषयभूत हैं, हमारे दुःखके निमित्तभूत नहीं हैं। हमारे क्लेशके निमित्तभूत तो कर्मोंके उदय हैं। और, जब उस प्रकारके कर्मोंका उदय होता है उस कालमें यह जीव जिन पदार्थोंको विषय बनाकर दुःखी हुआ करता है वे पदार्थ हैं आश्रयभूत। जैसे कोई बीचका मझोला आदमी अथवा पत्रवाहक राजदूत, इनपर क्रोध तो नहीं

करता। कोई आपके पास चिट्ठी लाये और किसीके मरेकी खबर उसमें लिखी है तो क्या कोई डाकियासे भी लड़ने लगता है कि तू क्यों ऐसा समाचार पत्र ले आया ? उस पर तो कोई गुस्सा नहीं करता। इसी तरह ये विषयभूत पदार्थ वैभव घर सम्पदा ये बीचके मझोला हैं, ये कष्टके साक्षात् निमित्तभूत नहीं हैं। हमारे कष्टोंका निमित्तभूत तो है कर्मोंका उदय। लेकिन जब किसीसे निपटना होता है तो उस मझोलियाका भी आश्रय छोड़ना होता है। इसी तरह जब हमें रागादिकसे दूर होना है तो विषयभूत इन मझोलियोंसे भी हमें अलग हो जाना चाहिए। लेकिन इन पर घृणाकी दृष्टि न करना चाहिए। घृणाके योग्य तो हमारे विकार भाव है। तो निमित्त तो हुआ कर्मोदय। और, रागादिक जो विकार हैं ये हुए साक्षात् क्लेशके उपादान। तो जीतना किसे है ? विषयोंको तो जीतना क्या। इन्हें जला दें, तोड़ दें, छोड़ दें। इन्हें छोड़कर बहुत दूर चले जायें तो जहाँ जायेंगे वहीं विषय रक्खे हैं तो इन विषयोंपर क्या घृणा करें। और निमित्तभूत कर्मोंपर हम क्या पुरुषार्थ करें। वे दिखते भी नहीं है। वे हमारे हटाये हटते भी नहीं हैं। भिन्न पदार्थ हैं। हमारा पुरुषार्थ तो हमारे इन रागादिक शत्रुवों को दूर करने में हो सकता है। अब ये रागादिक विकार हमारे कैसे दूर हों, उसका उपाय है यथार्थ ज्ञान बनाये रहना। जब हम ज्ञानकी ओरसे कमजोर होते हैं तो ये रागादिक विकार हमपर रोब जमा देते हैं। जब हम अपने ज्ञानस्वरूपको सम्हालते हैं तो ये रागादिक विकार फटकते नहीं हैं।

अपने सर्वस्व शरणभूत अन्तस्तत्त्वकी शरणग्रहणमें ही अपना कल्याणलाभ— अब सोच लीजिए हमारा सच्चा साथी, हमारा सच्चा शरण, हमारा देव, हमारा गुरु, हमारा हितकारी हमारा प्रभु कौन है ? सच्चा ज्ञानप्रकाश बना रहना यही है हमारा गुरु, यही है हमारा शरण, यही है सच्चा साथी। इस यथार्थ ज्ञानके बने रहनेका नाम है सयम। रागादिक शत्रुवोंकी सेना सयमरूपी शस्त्रोंके बिना बड़े-बड़े लौकिक महापुरुषोंसे सत्पुरुषोंसे भी राजा महाराजावोंसे भी सैंकड़ों जन्मोंमें जीती नहीं जा सकती। तो विपदा है रागादिक भाव। उनका विजय करना है तो सयम शस्त्रोंको ग्रहण करना चाहिए अर्थात् अपने आपको सयत बनाना चाहिए। देख लीजिए— कोई पुरुष शौक शानसे रहता है, बहुत बढ़िया साजश्रृङ्गारसे अपने शरीरके श्रृङ्गारमें और अनेक आभूषण चमकीले वस्त्रादिकके अपनेको सजानेमें रहते हैं, जिनका खानपान भी बिना सगमका है, जब चाहे खा लिया,

कितनी ही बार खाया, जहाँ चाहे खाया, जैसा चाहे खाया, जिसका रहन-सहन सादा नहीं है, साजश्रृङ्गारसे भरापूरा है ऐसे पुरुष क्या आत्माकी सुध रखते हैं, क्या रागादिक विकारोंसे दूर रह सकते है ? तो अपनेको संयत बनाना चाहिए। अपना मन अपने ही वश रहे, अपने आपको अपने स्वभावमें नियमित कर सकें, ऐसे संयमके द्वारा ही रागादिक जीते जा सकते हैं। और संयमकी प्रधानता नहीं है गृहस्थाश्रममें अतएव गेहाश्रममें रहकर रागादिक वैरियोंको जीतना कठिन है।

प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभृतः।
तत्राङ्गनादिभिः स्वान्तं निसर्गतरलं न किम् ॥२६६॥

अङ्गनासंसर्गमें स्वान्तकी निश्चलताकी असंभवता—जो मन स्त्रीके रूपादिकको देखकर चंचल हो जाता है अर्थात् गृहस्थाश्रममें रहकर स्त्रीका ही तो प्रसंग है ना, और वहाँ यह बात प्राकृतिकरूपसे चलती रहती है कि उन स्त्री जनोंके रूपादिकको देखकर प्रेमयुक्त रागभरे बर्ताव सुनकर चलित मन हो जाता है तो जहाँ मन इस प्रकार चंचल हो सकता है ऐसे गेहाश्रममें रहकर अर्थात् स्त्रीके संसर्गमें रहकर ध्यानकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? बड़े बड़े राजादिक भी जिन स्त्रियोंके दर्शन संगसे अर्थात् उन प्रचंड पवनों से चलित हो गए हैं ऐसे कामविषयक वातावरणमें रहकर ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। देखिये ब्रह्मचर्य नाम है आत्मामें मग्न होनेका। ५ पाप आत्मा में मग्न होनेमें बाधा डालते हैं, किसीका दिल दुखाना, किसीके प्रति उसके घातका विकल्प बनाना, किसीके विषयमें झूठ बोलना, चुगली करना, किसीकी चीज चुराना, किसीके साथ छलकपट करना, कुशीलसेवन करना, परिग्रहका जोड़ना, ये सब बातें आत्मामें मग्न नहीं होने देतीं, बाधा देती हैं, अतएव ब्रह्मचर्यका उल्टा व्यभिचार। तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा ये सब व्यभिचार हैं, क्योंकि ये आत्मामें मग्न नहीं होने देते। लेकिन व्यभिचार की प्रसिद्धि कुशीलमें है, हिंसाको, झूठको, चोरीको और परिग्रहको लोग व्यभिचार नहीं कहते, केवल एक ब्रह्मचर्यके घातको व्यभिचार कहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि इन ५ पापोंमें ब्रह्मचर्यका भंग करना व्यभिचार करना, कुशीलसेवन करना ये आत्ममग्नतामें विशेष बाधक हैं। कितनी कितनी फिजूलकी मोही जीवोंके साथ विडम्बनाएँ लगी हुई हैं जिससे कुछ हित नहीं है सारी हानियाँ ही हानियाँ हैं। व्यभिचार आदिक खोटे कार्योंमें मोहियोंकी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि अपनी जान भी खो देनेपर उन पापोंकी प्रवृत्ति उन्हें चाहिए। तो जहाँ कामका वातावरण रहता है, स्त्रीका संसर्ग रहता है उस काममें ध्यानकी योग्यता नहीं हो

सकती है।

खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥२६७॥

गृहाश्रममे किसी भी देश कालमें ध्यानकी सिद्धिकी अशक्यता—आकाश के फूल क्या किसीने देखा ? होते ही नहीं हैं। गुलाब, चम्पा, चमेली आदिके फूल होते हैं पर आकाशके फूल नहीं होते। इसी प्रकार गधेके सींग, खरगोशके सींग ये भी कभी नहीं होते। तो सम्भावनामें कह रहे हैं कि कदाचित आकाशके फूल हो जायें, गधेके सींग हो जायें पर किसी देश व कालमें गृहाश्रममें ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। अर्थात् जो मोक्षका साक्षात् कारण हो ऐसा ध्यान गृहाश्रममे नहीं बनता। यद्यपि पंचम गुणस्थान तक गृहाश्रम है और देशसंयम अवस्थामें धर्मध्यान बताया ही गया है, लेकिन इस प्रकरणमे जो मोक्षका साक्षात कारण बने ऐसे ध्यानकी बात चल रही है। वह ध्यान गृहस्थाश्रममे नहीं बनता। धर्मध्यान होता है और वह धर्मध्यान भी उत्कृष्टरूपसे गेहाश्रममें नहीं हो सकता, इस कारण यद्यपि धर्मध्यान जो कि ४ प्रकारके हैं चारों ही धर्मध्यान चौथे गुणस्थान में सम्भव हैं। होते हैं लेकिन इनकी उत्कृष्टता नहीं हो पाती, इस कारण रूढ़िके अनुसार संस्थानविचय धर्मध्यानको मुनिने बताया है। होने तो लगता है चतुर्थ गुणस्थानसे, पर इसकी उत्कृष्टता इस ध्यानकी जवानीकी दृष्टिसे ऐसी प्रसिद्ध है कि संस्थानविचय धर्मध्यान माना है मुनियोंके और विपाकविचय तक माना है श्रावकोंके पञ्चम गुणस्थानमें और एक दृष्टि से कि चूँकि तीसरे गुणस्थानमें मिश्र परिणाम होता है तो आज्ञाविचयकी बात वहाँसे प्रकट होने लगती है, तो आज्ञाविचयको बताया है तीसरेमे। यह एक विवक्षासे रूढ़ि चल गयी है। इस रूढ़िसे हम केवल यह तात्पर्य लें कि गेहाश्रममें उत्तम ध्यानकी सिद्धि नहीं हो पाती। यहाँ तक गेहाश्रमकी निशन्ता बतायी गई है। कुछ श्लोकोंमें और अब आगे परिणामोंके अनुसार और दर्शनशास्त्रके आधारसे तत्त्वविततामी दृष्टिसे ध्यानकी पात्रता का वर्णन किया जायगा। पर गेहाश्रमकी इतनी बड़ी लम्बी चौड़ी निन्दा की कहानी करके आचार्यदेवने गृहस्थजनोंको यों सावधान किया कि गृहस्थजन अपने वर्तमान मौज आरामके इन समागमोंमें, साधनोंमें रम न जायें और वे उसे अपराध मानें, उससे हटनेका भाव बनायें और अपना लक्ष्य ऊँचा बनायें, शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि रखें और ऐसे ही शुद्ध होनेके संयमकी आराधना करें। साधुजनोंको इस प्रकार सावधान किया है कि हे साधुजन ! तुमने जब गेहाश्रमको त्याग दिया है और अपने एकान्तवास आदिक

साधनोंसे आत्मसाधनाका उद्यम कर रहे हो तो अब कभी गेहाश्रमका आदर न देना, न संकल्पमें उसका स्मरण करना। जो स्मरण करेगा वह अपने पद से भ्रष्ट है। जैसे कि पुष्पडाल मुनिकी कथा प्रसिद्ध है कि किसी प्रकार थोड़ीसी भावुकतामें आकर गेहाश्रम छोड़ दिया था और साधु होकर साधना करनेमें जुट गए थे लेकिन कुछ ही समय बाद उन्हें गेहाश्रमकी याद आने लगी थी। उस समय उनके मित्र वारिसेणने फिर कुछ घटनाएँ बनाकर उन्हें सचेत किया था। तो साधुजनोंको यह शिक्षा दी है कि जिस गेहाश्रमका परित्याग किया है उस गेहाश्रमकी अब याद न करना, उस ओर कुछ दृष्टि न देना। इन दोनों प्रयोजनोंके लिए इस ध्यानके प्रकरणमें गेहाश्रमकी निन्दा की गई है।

विकल्पाश्रमोंसे हटकर निर्विकल्प निजधाममें पहुँचनेकी प्रेरणा— यद्यपि कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है जो जन्मसे गेहाश्रमसे छूटा हुआ हो, भले ही कोई ८-९ वर्षकी उमरसे गृहका सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया हो, वह भी एक सीमाका छोटासा गेहाश्रम है, लेकिन गेहाश्रमकी जवानी तो भोगोंके साधन सञ्चय करनेसे शुरू होती है और उन भोग साधनोंकी संगतिमें इस जीवको आत्माकी सुध नहीं रहती है। तो हे आत्मन! अनेक यत्न करके अपने ज्ञानोपयोगको ऐसा ढालनेका यत्न रख कि अधिकाधिक समय यह ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वके जाननेमें लगा रहे, अपनी ओर आये। जगतमें बाह्यमें कहीं भी कोई शरण न मिलेगा जिस समय यह आत्मा जो कि अपने प्रदेशोंमें ही है, जिसके ज्ञानादिक गुण अपने प्रदेशोंमें ही हैं और जो कुछ यह करता है अपने प्रदेशोंमें ही करता है। जानता है तो वह भी निश्चयतः अपनेको अपने प्रदेशोंमें ही जाननप्रकाश है, अपने ही प्रदेशोंमें आनन्दप्रकाश है। निश्चयतः सब कुछ ऐसी स्वस्थता होनेपर भी जब यह ज्ञान अपनी ओरसे विमुख होकर एक जाननप्रदेशोंमें परकी ओर सन्मुख होता है बस विपदायें और विडम्बनाएँ तबसे ही प्रारम्भ हो जाती हैं। जैसे चाककी कील बीचमें है और वह भ्रमण करती है, देखनेमें तो ऐसा लगता है कि इस कीलने अपना स्थान नहीं छोड़ा, जहाँ है तहाँ ही है, लेकिन उस कीलसे चिन्गारियां निकलती हों तो जिस ओर मुख करेंगे उस ओर ही चिन्गारियां बढ़ेंगी। यह ज्ञान यद्यपि आत्माके धाममें ही विरजा है, आत्माके स्थानको छोड़कर कहीं अन्यत्र ज्ञेयोंमें नहीं घुसता तथापि यह जिस ओर मुख करता है, रहता है आत्मामें ही। आत्मामें ही रहता हुआ परकी ओर जो इसने जानन पद्धतिरूप मुख किया और रागसम्बन्धसे परकी ओर आकर्षित हुआ कि बस इस परदृष्टिमें सारी विडम्बनाएँ इस पर

छा जाती हैं, भूल गल्ती यह है और जिसका परिणाम इतना कठिन भोगना पड़ता है जिसे कहते हैं यह समस्त संसार। तो इतना दुर्लभ अवसर पाकर यदि हम बाहरी-बाहरी बातोंमें ही उलझे रहे, अपने आपपर दया न कर सके, अपनी ओर झुककर अपने ही स्वरूपानुभवका आनन्दरस अमृत न पी सके तो फिर बतावो हम आप आत्माओंका भविष्यमें क्या परिणाम होगा, क्या फल मिलेगा? इस कारण हम गुप्त ही गुप्त अपनेमें रहकर अपना झुकाव करके अपने आपके स्वरूपानुभवके अमृतका पान करते रहें, किसी भी स्थितिमें किसी भी जगह हों, इससे बढ़कर और कोई हितका पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धिः स्वप्नेऽपि जायते।
गृह्णतां दृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातं यदृच्छया ॥२९८॥

दुर्दृष्टियोंके भी ध्यानसिद्धिकी अपात्रता—अब गेहाश्रम अथवा वनवास इन दोनों पर किसी एक ओर दृष्टि न देकर केवल एक दार्शनिक दृष्टिसे ध्यानकी पात्रताका वर्णन कर रहे हैं। जो मनुष्य दृष्टिकी विकलतासे वस्तुतत्त्वको अपनी इच्छाके अनुसार ही मानते हैं ऐसे मिथ्याबुद्धि वाले पुरुषोंके ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है। दृष्टिवैकल्यका अर्थ है कि जो तत्त्व जिस दृष्टिसे निहारा जाता है उस तत्त्वकी दृष्टि न हुई हो। पदार्थका विरोध करनेमें दृष्टिका बड़ा आधार रहता है। मूलमें दृष्टि विपरीत है तो समस्त वर्णन उसका विपरीत चलेगा। और, जिसकी मूलमें दृष्टि विशुद्ध है उसकी सब बातें विशुद्ध चलेंगी। दृष्टि तो एक नाव खेने वालोंमे जो कर्णधारका स्थान है ऐसा ही स्थान दृष्टिका है। तो चाहे यती भी हो कोई लेकिन दृष्टि विशुद्ध न जगी, जिस प्रकार वस्तु है उस प्रकारसे अविबोध न किया तो वहाँ भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। ध्यानमें विचार तो जाय और कुछ, पदार्थ हो और भांति तो ज्ञानस्वरूपमें मग्न नहीं हो पा सकता, क्योंकि उस वातावरणमें उन्हें वह सुगमता प्राप्त नहीं होती। उनका वह आचरण दुर्गम होता है। जैसे व्यवहारमें देखिये कि चीज तो है कोई विनाशीक और माना हो उसे ध्रुव तो उसमें कष्ट बढ़ता है। कष्ट दूर होनेकी बात नहीं होती है। मानो यह ध्रुव है, मान्यतामें तो यह बात बसी है और रहता वह है नहीं सदा, तो बतावो उसको संक्लेश होगा या नहीं? जो बात जैसी नहीं है उसे वैसी न समझे, और भाँति जाने तो उसमें ज्ञान ज्ञानमें समा जाय, युक्त हो जाय ऐसा अवसर नहीं मिलता। इस ज्ञान ध्यानकी सिद्धिके लिए ज्ञान सत्य होना चाहिए। सत्य दृष्टि जगे बिना ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं हो सकती।

ध्यानसिद्धिर्यतित्वेऽपि न स्यात्पापण्डिना क्वचित् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम् ॥२९९॥

पूर्वापरविरुद्धार्थ मूढ़ पाखण्डिजनोंके भी ध्यानसिद्धिका अभाव—जो वस्तु स्वरूपसे विपरीत तत्त्वका श्रद्धान करता है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवको गृहस्थावस्था छोड़कर यती हो जाने पर भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि पदार्थ जैसा नहीं है उस रूपसे वह सच मान रहा है। इसलिये सारी बात अपने आपमें ही हो रही है। यह ज्ञान पदार्थके सम्बन्धमें विपरीतस्वरूप का जानन किया करे सो वह जानन विपरीत है और एक अंधकारकी स्थिति है कि वह सत्य नहीं समझ सका। इसे सत्य नहीं सूझता, ऐसी स्थितिमें अन्त एक विप्लव होता है, क्लेद होता है, विरुद्ध ध्यानमें पदार्थके स्वरूपसे विपरीत परिज्ञानसे प्रकृत्या क्लेद उत्पन्न होता है और ध्यानकी सिद्धिकी वहाँ पात्रता नहीं होती। तो जो मिथ्यादृष्टि जन हैं वे गृहस्थावस्था को छोड़ दें, यती भी हो जायें तब भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। पूर्वापर विरुद्ध पदार्थोंके स्वरूपमें वे सच्चाई मान रहे हैं। वे किस प्रकारसे विपरीत श्रद्धान करते हैं, यह अब आगे वर्णन आयगा, पर यहा इतना ही समझ लीजिए कि पदार्थस्वरूपके विपरीत परिज्ञान करनेमें आत्मामें ही खेद चलता रहता है। जब तक यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपमें ही मग्न न हो सके, वैसी पात्रता न जगे, तब तक ध्यानकी सिद्धि नहीं होती।

किं च पाषण्डिन सर्वे सर्वथैकान्तदूषिता ।
अनेकान्तात्मक वस्तु प्रभवन्ति न वेदितुम् ॥३००॥

एकान्ताग्रहदूषित पाखण्डियोंके वस्तुयाथात्म्यविज्ञानका अभाव--जो पाखण्डी सर्वथा एकान्ततासे दूषित हैं वे अनेकान्तात्मक वस्तुको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकते। कुछ एक समीचीन धारा असमीचीन धाराका ऐसा ही प्रभाव है, जो एकान्त हठ वाले हैं उनके चित्तमें यह धैर्य नहीं रहता कि इसके विपरीत जो कोई कुछ कहता हो हम उसकी दृष्टिसे भी तो समझें कि किस दृष्टिमें रहकर किस परिणाममें रहकर दूसरा कुछ बोल रहा है? इतना धैर्य ही नहीं रहता कि हठ करने वालेको तो अनेकान्तात्मकताकी झलक कैसे आयगी? बड़ेसे बड़े वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमें विपरीत कहने वाले दार्शनिकोंकी बातको भी यह तत्त्व किस दृष्टिसे ठीक हो सकती है ऐसी निगाह डालनेपर वहा भी विरोध नहीं रहता। और, कल्याणार्थी पुरुषको विरोध करनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता, पर किसी तत्त्वका एकान्त हठ करके बात रखी जाय और उस हठमें अन्य जीवोंको प्रकाश न मिल सके, इस कृपासे कौन बात करता है, पर उनका भीतरी चित्त कुदके

लिए तो ऐसा स्पष्ट है कि किसी दार्शनिककी बातको उसके दिमागको उसकी दृष्टिको उसमें बैठालकर अपने आपमें खेद न करे। जैसे कुछ उदाहरण लो—विभिन्न दार्शनिक हैं, ब्रह्माद्वैतवाद, और क्षणिकवाद। ये दोनों अत्यन्त विरोधी हैं। ब्रह्माद्वैतवाद तो यह कहता है कि सारा जगत एक ब्रह्मस्वरूप है और वह अपरिणामी है, इसमें कभी कोई बदल ही नहीं होती। और, जितनी जो कुछ दुनियामें बदल है वह सब प्रकृतिके द्वारा होती है। प्रकृति मायारूप है, व्यवहार है, असत्य है, ब्रह्मसत्य है और वह ब्रह्म अपरिणामी है, एक है, अभेद है, और अखण्ड है, जब कि क्षणिकवाद मानता है परिणामी है, भेद है, अनेक है, खण्ड खण्ड है। कितना परस्परमें विरोध है ?

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके विभ्रमसे एकान्तवादोंकी निष्पत्ति—किसी वर्णन करनेमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारका जो माध्यम है जैनशासनका वह इतना प्रकृष्ट माध्यम है कि इन्हीं चारकी किसी गलतीसे समस्त दर्शन बन गए। जैसे कोई अपने घरमें ही रहकर सारे जगतकी व्यवस्था कर लेता है ऐसा सामर्थ्य और कौशल जहां हो वहां कोई बड़ी प्रभुता समझियेगा। ऐसे ही एक दार्शनिक क्षेत्रमें यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टयरूप एक घरमें ही विराजकर स्याद्वादकी और समस्त एकान्तवादोंकी जो व्यवस्था बना दें समझ लो उनकी कितनी बड़ी प्रभुता है। विषय कुछ थोड़ा कठिन आ गया, पर कोई भी कठिन प्रकरण हो अनेक बार सुननेसे ही तो सरल होता है। तो वस्तुमें जाननेके लिए चार धर्मोंकी दृष्टि आ गई है, पिण्डरूप, आकारप्रकाररूप, अवस्थारूप और शक्तिरूप। सबमें इन चार बातोंको देखना चाहिए। जैसे यह चौकी है, पिण्ड तो ऐसा है, आकार इस प्रकार है, परिणमन इसका ढीलाढाला काला नीला इस प्रकार है, और शक्ति इसमें जो है सो है। इन चारसे वस्तुकी व्यवस्था बनती है। अब इन चारमें कुछ गलती बन जाय वह ही हो गया एकान्तमतका अन्यमतका, बस इस आधारपर सब दर्शनोंका खोज निर्णय विवरण सब करते जाइये। सब दार्शनिक शास्त्रोंमें बीजभूत निर्णय करनेकी आधारशिला यह स्वचतुष्टय आप देख लीजिए कि एक अद्वैतवाद और एक क्षणिकवाद परस्परमें अत्यन्त वैरी हैं। यह मानना कि ब्रह्म है वह एक है तो यह मानना कि जगतमें पदार्थ अनेक हैं। अकेला स्कंध या बहुप्रदेशी कोई पदार्थ नहीं होता, वे सब मिथ्या कल्पनाएँ हैं। द्रव्यदृष्टिसे अद्वैतने माना एक तो पिण्डदृष्टि क्षणिकवादने उसे माना अनेक। और, क्षणिकवादमें समस्त पदार्थ केवल एकप्रदेशात्मक होते हैं। वहां अस्तिकाय नहीं है जब कि अद्वैतवादमें वही

एक ब्रह्म समस्त जगतरूप माना गया है। कालदृष्टिसे वह ब्रह्म अपरिणामी है, कूटस्थनित्य है, तो यहाँ पर उसके मुकाबलेमें कहा कि कोई पदार्थ दो समय ठहरता नहीं, सब एक समय रहते हैं। भावदृष्टिसे इस अद्वैतने माना सर्वक्लेशमय, तो क्षणिकवादने माना निरंश, एक प्रतिच्छेदी। वहाँ समन्वयका काम नहीं है। इतने बड़े विरोधमें मुकाबलेतन दोनों दर्शनोंको जो स्याद्वाद एक जगहमें समन्वय कर सकता है ऐसे स्याद्वादमें आप देखिये कितनी गम्भीरता और धीरता बसी हुई है। और, हम आप बात बातमें बात तो जितनी होती है सब भिन्न होती है। जरासी भी प्रतिकूल बात कह जानेपर हम जरासी देरमें बैरी मान लें, मुकाबला करने लगें, विरोध करने लगें तो समझिये कि हमने अपने लिये क्या किया ? आचार्यदेवका हृदय इतना स्वच्छ था कि वे अपनेमें किसी दर्शनके कारण खेद नहीं उत्पन्न करते थे। यह तो उनकी अपने लिए देन थी। और, जगतके जीव कहीं एकान्तवादसे भ्रान्त न हो जायें तो उनको समझानेके लिए स्याद्वादने उनका समन्वय दे डाला। कहनेका प्रयोजन यह है कि जिसे विशुद्ध दृष्टि नहीं प्राप्त हुई है वह अनेकान्तात्मक वस्तुको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता, तब ऐसी स्थितिमें क्या दशा होती है सो सुनिये।

नित्यता केचिदाचख्यु केचिच्चानित्यता खला।
मिथ्यात्वान्नैव पश्यन्ति नित्यानित्यात्मक जगत ॥२०१॥

मिथ्यात्वग्रस्त पुरुषोंके वस्तुयाथात्म्यका अदर्शन—कोई पुरुष तो वस्तुमें नित्यता ही कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ नित्य है, उसमें कोई परिवर्तन ही नहीं होता। जैसे अभी बताया था कि अद्वैतवाद नित्य मानता है। यहाँ केवल कालदृष्टिसे वर्णन किया गया है। अभी चतुष्टयसे बात कही थी। प्रत्येक दर्शनमें चाहे वह एकान्तवादमें आया हो, पर जो भी वर्णन करेगा वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको छोड़कर वर्णन नहीं कर सकता। चाहे मिथ्या वर्णन करे, चाहे सम्यक वर्णन करे, हम आप सब लोग जितना जो कुछ जानते हैं, व्यवहार करते हैं, वर्णन करते हैं चाहे समझ न सकें लेकिन द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव इनका आधार छोड़कर हम आप कुछ बोला ही नहीं करते। कैसो बात निकली है अथवा निकली क्या है—एक आप्त परम्परासे कैसा स्पष्ट वर्णन चला आया है उस निर्णयकी पद्धति कितनी स्पष्ट है। किसी भी दर्शनको ले लीजिए, कुछ चिन्तनाके बाद आप वहाँ बता देंगे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इनमें से किस जगह क्या गलती हुई है। तो कालदृष्टिसे कोई लोग नित्य मानते हैं तो कोई लोग अनित्य मानते हैं, लेकिन ये सब कुछ पदार्थ नित्य त्मक है। ऐसे मिथ्यात्वके उदयसे वे निरख

नहीं सकते। जो दर्शन शास्त्रमें मतों नाम आये हैं वे मत आज इस नामसे प्रचलित नहीं है—जैसे सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध, जैन इन मतोंके नाम प्रचलित नहीं हैं। आज कुछ दूसरे-दूसरे नाम हैं, जैसे, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध आदि। पहिले दर्शनके आधारसे नाम प्रचलित रहा करते थे और जबसे यह प्रचलन हटा तबसे जैनशासन तो ऐसा रहा अथवा कुछ कुछ बौद्धशासन भी है कि जो दर्शनमें माना है उस ही के आचरणकी प्रेरणा है और उस ही नामपर मत रखा गया है, करीब करीब यह बात घटित है लेकिन अन्यत्र ऐसा मिलता है कि कुछ नैयायिकसिद्धान्त, कुछ वेदान्त सिद्धान्त ये सब बातें चलती हैं। जैसे नैयायिकोंने यहाँ कर्ता हर्ता माना और अपरिणामी माना कुछ परस्पर विरोध भी रखते हैं पूर्वापर। इन सब बातोंसे जिनकी दृष्टि अविकल है, सर्वदृष्टियोंसे वस्तुका निर्णय करते हैं उन्हें यहां कोई सन्देह नहीं रहता। आत्मा यदि अनित्य है तो प्रथम तो यह बड़ा विवाद होगा। जैसे एक कहानीमें कहते हैं कि एक ग्वाला किसी क्षणिकवादीकी गाय चराता था। जब महीने पूरे हो गए तो ग्वालाने चराई मांगी। तो क्षणिकवादी बोला कि जिसने गाय दी थी वह तो अब रहा नहीं, क्योंकि आत्मा तो क्षणिक है। हम किसे चराई दें। तो वह ग्वाला भी बड़ा चतुर था। उसने दूसरे दिन गाय न भेजी, अपने घरमें बांध लिया। जब गाय न आयी तो अब इसकी खटकी। वह गया ग्वालेके पास, कहा कि आज तुमने हमारे घर गाय क्यों नहीं भेजी? तो वह बोला कि जिसने गाय चरानेको हमें दी थी वह आत्मा तो मर गया, अब किसके घर गाय भेजें तो उसकी समझमें आया। बोला—भाई! हम भूलमें थे, अपनी चराई लो और हमारी गाय दो। तो आत्माको क्षणिक माननेसे कुछ भी व्यवस्था नहीं बनती। जो चीज नित्य ही है, उसमें कोई अवस्था ही नहीं होती है तो परिणमन भी नहीं है। फिर बात ही क्या होगी, व्यवहार भी क्या होगा, प्रवृत्ति भी क्या होगी और आचरण भी क्या होगा? सो तो स्पष्ट विरोध है। स्याद्वाद दर्शनमें यह बताया है कि वस्तुका जो मूलभूत रूप है वह तो शाश्वत है, नित्य है, किन्तु कोई भी पदार्थ किसी अवस्थाको लिए बिना रह ही नहीं सकता। यदि कुछ है तो उसमें कुछ न कुछ अवस्था होगी। वही अनित्य है। यों समस्त जगत, समस्त पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं, केवल नित्य माननेमें भी दोष, केवल अनित्य माननेमें भी दोष।

विपरीतको सही माननेरूप विभ्रममें अनर्थ—मिथ्यात्वका उदय होता है तो अपनी बुद्धिसे कल्पनाएँ करके कुछ भी सिद्धि करके संतुष्ट हो जाते हैं दूसरोंको करते हैं भ्रम। जैसे किसीने खूब समझा दिया और बता दिया,

देखो हम जो कहते हैं सो ठीक है बाकी सब लोग गड़बड़ हैं, किसीकी बात न मानना और किसी तरह बैठ जाय ढाप तो उसकी दशा कैसी भ्रान्त रहेगी। मान लो किसी गावके किनारे कोई मजाकिया रहता हो और यात्रियोंसे यह कह दे—देखो अमुक रास्तेसे जाना तो अमुक जगह पहुंचोगे, नहीं तो रास्ता भूल जावोगे, और ये जो गावके लोग हैं वे सब तुम्हें गलत रास्ता बतावेंगे, सभी मजाकिया हैं, एक हमी बूढ़के धोये हैं। तो हो रास्ता पूरबका और वह बता दे पश्चिमका रास्ता। आखिर मुसाफिर पश्चिमके रास्तेमें बढ़ता गया। जब बहुत आगे बढ़ गया तब पता पड़ा कि अरे हम तो रास्ता भटक गए। तो भ्रमकी बड़ी चोट होती है। जिसकी दृष्टि विशुद्ध नहीं है और पदार्थस्वरूपका एकान्त हठ रखता है ऐसे पुरुषके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है। ध्याता, ध्यान, ध्येय कुछ भी वहाँ व्यवस्थित नहीं है। इस ध्यानके प्रकरणकी बात यहाँ कही जा रही है कि गेहाश्रममें ध्यानकी सिद्धि नहीं है। उसे भी छोड़कर मुख्य बात दृष्टिकी विशुद्धि है। सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें, दृष्टि विशुद्ध बनायें और उस ज्ञानप्रकाशमें अपने आपमें अपने आपको मग्न करके संसारके समस्त संकटोंसे दूर रहें।

वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्कि ध्येयं क्व च भावना।
ध्याताध्यानच्युतस्तेषां प्रयासायैव केवलम् ॥३०२॥

वस्तुस्वरूपके अपरिज्ञानमें ध्येय व भावनाकी भी असिद्धि—जिनके वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं होता उनके ध्येय क्या है और भावना कहा करें यह कुछ भी युक्त नहीं रह सकता। किस चीजका चिन्तन करना चाहिए इसका वहाँ कुछ परिचय ही नहीं है। जो दिखने वाले पदार्थ हैं इनका क्या स्वरूप है और जो जानने वाला हो उसका क्या स्वरूप है यों अपने का और परका निर्णय किए बिना ध्यान क्या बनेगा। केवल एक इस भावनामें कि भगवान मुझे सब कुछ करेगा जो भक्तिपूर्वक केवल भगवान की ओर एक आशा लगाये रहना इसमें ध्यान तो नहीं बना। ध्यानकी बात कह रहे हैं, और भगवानके स्वरूपका ही यदि यथार्थ विचार करने लगे तो ध्यान बन जायगा। ध्यान वस्तुके स्वरूपके विचारसे सम्बन्ध रखता है और अन्य जगह अन्य परिचयमें ऐसी प्रतीक्षा इससे सम्बन्ध रहता है। प्रभु शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा है, भगवानका ज्ञान सर्वजगतको जानने वाला है और यह सबको जाननेकी पर्याय भगवानके ज्ञानस्वभावसे उठी हुई है, कहाँ से निकल रही है। उस जानकारीके ठौरका परिचय हो तो उसने आत्माके स्व-

रूपको छुवा है। केवल बाहर-बाहर जाननेसे भी उसे सम्यग्ज्ञान नहीं बना। जाननहारेका सही परिचय होनेपर सम्यग्ज्ञान बनता है। हम सबकी तो व्यवस्था करते रहें और अपने आपका कुछ परिचय ही न पायें तो हमारा उपयोग टिकेगा कहाँ? बाहरके पदार्थ तो सब भिन्न है, विनाशीक हैं, कुछ समय रहते हैं, उनपर हम अपना ध्यान जमायें तो यह ध्यान तो बराबर टूटता रहेगा। वे विषय ही न रहेंगे अथवा ऐसा जो यह मन है जिसका विषय परवस्तुवोंके सम्बन्धमें चिन्तन करना है वह मन भी चचल है। मनको विश्राम कहाँ मिलेगा? मनको विश्राम अपने आपके आत्मामें मिलता है और वह भी जब अपने आपको इस रूपमे ग्रहण किया जाय कि मैं केवल ज्ञानज्योति स्वरूप हू, अमूर्त आकाशकी तरह निर्लेप केवल एक ज्ञान-ज्योतिसे परिपूर्ण हू ऐसा अपने आपको ज्ञानस्वभावरूपसे ग्रहण करनेपर मनको विश्राम हो सकता है अन्यथा कितनी ही ध्यानकी प्रक्रियायें करें और उसका बाह्यसाधन हैं एक सामने बिन्दु रखकर उस ओर ही दृष्टि जमाना, कोशिश रखना, अभ्यास करना, स्थिर आसन करना अपनी श्वासको अपने भीतर अधिक देर तक रोके रखनेका अभ्यास करना यही सारीकी सारी बातें मनको विश्राम नहीं लेने देतीं। मनको विश्राम आत्म-स्वरूपके यथार्थ परिचयसे ही हो सकता है।

वस्तुत्वके अपरिचयके कारण ध्येय व भावना न होनेसे ध्यानसिद्धिकी असंभवता—जहा मन परपदार्थोंकी जानकारी करता हुआ, राग करता हुआ चलेगा वहाँ मन कहा विश्राम कर सकता है। तो जिनके वस्तुतत्त्वका यथार्थ परिज्ञान नहीं है उनके न कोई ध्यान है और न कहीं भावना जम सकती है, न उनके ध्यानका अभ्यास चल सकता है। कोई एक लक्ष्य बिन्दु तो हो कि हमें इसकी निरन्तर जानकारी बनाये रहना है, उसका ही तो अभ्यास करनेकी बात है ध्यानमे। जिन्हें वस्तु तत्त्वका बोध नहीं है, अज्ञानी जन हैं, मोही पुरुष हैं उनका ध्यानका करना प्रयासमात्र है, उससे फल कुछ नहीं निकलता, इस कारण जिसे ध्यान चाहिए, शान्ति चाहिए, कल्याण चाहिए उनका सर्वप्रथम यह कर्तव्य है कि वे अपना और जगतका यथार्थ ज्ञान करें। इसके अतिरिक्त अन्य बातें जैसे धनका सचय करना, अपनी जायदाद बढाना, लोकमें अपना यश नाम बढ़ाना, समागमके बीच अपने आपको अपनी चतुराई दिखाकर बड़प्पन बताना, इन सब बातोंसे क्या सिद्धि होगी? ये सब असार बातें हैं। जैसे चोर चोर आपसमे अपनी चोरीकी कलापर गर्व करते है और बड़प्पन मानते है ऐसे ही मोही मोही पुरुष अपनी मोहकी कलापर, रतवापर, बढ़वारीपर और उसके साधनोंकी वृद्धिपर अपना गौरव मानते हैं, लेकिन वे सब बड़प्पनकी बातें नहीं हैं,

केवल पतनके साधन हैं, अपने आपके बड़प्पनकी बात तो केवल ब्रह्म-चर्यमें है। इस कारण अन्य सब बातोंको भाग्यके आधीन समझकर उनकी उपेक्षा करें। घरमें रहते हैं तो समय पर व्यापार सेवा आदिकके सब कार्य करने चाहिएँ। सब कुछ करते हुएमें जो बीतती है उसमें ही व्यवस्था बनायें, सन्तोष करें। पुरुषार्थ करें अपने ज्ञान और ध्यानके लिए। क्योंकि शान्तिका उपाय ज्ञान और ध्यान है, बाहरी पदार्थोंका राग नहीं है। अनु-भव भी क्षोभ करते होंगे कि ये बाहरी पदार्थ विच्छेदके कारण हैं, उनसे क्षोभ मिलता है, आकुलताएँ होती हैं, चिन्ता और शल्य रहते हैं, आत्म-तत्त्वमें अपना ध्यान बनानेके लिए उत्साह नहीं रहता है, इस कारण यह बात बिल्कुल युक्त कही गई है कि वस्तुस्वरूपका ज्ञान न होने से न तो कुछ ध्यान रहे, न कुछ भावना जगे न ध्यानका अभ्यास बने, अतएव वस्तुतत्त्वके परिज्ञानमें अपना यत्न बढ़ना चाहिए।

> शतमशीति प्रमितं क्रियावादिनां प्रचण्डानाम् ।
> चतुरधिकाशीतिरपि प्रसिद्धमहसां निवर्शानाम् ॥२०३॥
> षष्टिर्विज्ञानविदां सप्तसमेषां प्रसिद्धबोधानाम् ।
> द्वात्रिंशद्वैनयिका भवन्ति सर्वे प्रवादविदः ॥२०४॥

क्रियावादी व अक्रियावादियोंकी स्वच्छन्दता—ऐसे दर्शन जिसमें स्याद्वाद का समावेश नहीं है वे कितने प्रकारके हैं? तो क्रियावादी १८० प्रकारके हैं। इनके भेद प्रभेद किसी समय बतायेंगे और उनके विपक्षी अक्रियावादीके ८४ भेद हैं, ज्ञानवादियोंके ६७ भेद हैं अथवा अज्ञानवादियोंके समझिये। और, विनयवादियोंके ३२ भेद हैं। अर्थात् जितने भी लोकमें धर्म हैं वे सब वस्तुके स्वरूपके सम्बन्धमें निरूपणके आधारपर हैं। कोई लोग इसी से ही मुक्ति मानते हैं। क्रियाकाण्ड किये जावें, चारित्रपालन किया जावे, व्रत तपश्चरण किया जावे, यद्यपि ऐसे काम करना भी किसी हद तक सहायक है पर ज्ञानकी अपेक्षा न करके, श्रद्धानकी अपेक्षा न करके केवल मात्र किया जावे, करे बिना तो कुछ नहीं होता, दलील भी देते हैं, अरे केवल जानन जाननसे क्या रखा है, करे बिना कुछ नहीं होता, करना चाहिए। करनेसे ही होगा तो करते जावो, क्या करना चाहते हो? हाथ पैरकी क्रिया ही तो करोगे, और क्या करोगे। तो क्रियावादसे मात्र केवल मुक्ति मानना और उसमें भी जो भेद बतावेंगे उनसे और स्पष्ट होगा। तो यों केवल क्रियाकाण्डसे अपनी परिणतिसे ही मन वचन कायकी क्रिया करके अपने आपको सन्तुष्ट मान लेना यह भी एक प्रकारसे एकान्त हठ है। कुछ न करे, अपने आप जो होना है होता है। यों प्रमादमें रहनेसे ही

जो अपनेको सन्तुष्ट मानते हैं, धर्मात्मा समझते हैं वे भी एक तरहके हठी हैं। कोई केवल जानकारी मात्रसे अपनी सिद्धिके हठी हैं। कोई केवल जानकारी मात्रसे अपनी सिद्धि समझते हैं। जान लिया कि स्वरूप क्या है, बस करना कुछ नहीं है, उस ओर चित्त मत दो, विश्राममें रहो, यों अज्ञानमें ही सन्तोष करते हैं ऐसे भी हठी पुरुष हैं।

विनयवादादि आग्रहोंमें भी तत्त्वोपलब्धिकी असंभवता—कुछ ऐसे हैं कि विनय विनयमें ही धर्म मानते हैं, अपने आत्माके ज्ञानपर, श्रद्धानपर सदाचारपर कुछ बल नहीं है, केवल खूब विनय किए जावो तो ऐसे विनयमें हठ भी रही। हठ यों कहलाती है कि केवल विनय विनयसे ही सिद्धि मान लेते हैं। न ज्ञान हो, न श्रद्धान हो तो कहाँसे सिद्धि होगी? इसका कुछ ध्यान नहीं है तो यह भी हठ है। तो यों एक तत्त्वपरिचय बिना अनेक प्रकारकी हठें करके जीव अपने पथसे च्युत हो जाते हैं और क्लेशके मार्गमें लगे रहते हैं। यथार्थ तत्त्वका परिचय होना बड़े बड़े ही होनहार जीवोंको प्राप्त होता है। प्रमादकी बात देखिये—हम आप सब जितने भी मनुष्य हैं सबके ज्ञान है कि नहीं? और, ज्ञानकी बड़ी योग्यता है। अगर योग्यता विशेष न होती तो अनेक लोग आविष्कारमें बड़े-बड़े अपने कमाल दिखा रहे हैं और गणित आदिकके हिसाबमें यहाँ वहाँकी सब व्यवस्थाओंमें कितनी-कितनी अपनी योग्यताका परिचय दे रहे हैं। यह क्या अपने ज्ञानकी बातें नहीं हैं। जो बातें कठिन हैं उनमें तो बुद्धि खूब चलती है और जो बात अत्यन्त सरल है, यह है जानने वाला, यह है आत्मतत्त्व, उसकी जानकारी हो सके क्या यह सम्भव नहीं है? जिस ज्ञानमें इतनी योग्यता है वह ज्ञान अपनेको न जान सके जरा ख्याल तो करिये कितने खेदकी बात है? ये सब कुछ बातें एक दृष्टिपर अवलम्बित हैं। दृष्टि चाहिए, ध्यान खिचना चाहिए। आत्माका और अनात्माका सही ज्ञान हमारे कल्याणका साधक है। यदि हम केवल आत्माकी ही बात करें तो यह सम्भव नहीं है कि परतत्त्वका निर्णय किए बिना आत्माकी कुछ बात समझ सकें। तीसरी बात यह है कि जिन परतत्त्वोंमें परपदार्थोंमें हम मोह करते चले आ रहे हैं, रागी बने चले आ रहे हैं, उनसे राग हटना हमारा तभी तो सम्भव है कि हम परपदार्थोंके विषयमें उल्टा ज्ञान करके राग करते थे तो अब हम सही ज्ञान कर लें तो हमारा राग दूर हो जाय।

यथार्थ ज्ञान द्वारा ही विभ्रमज क्लेशोंके विनाशकी सम्भवता—यथार्थज्ञान द्वारा विभ्रमज क्लेशसे तुरन्त निवृत्ति होती है। सामने पड़ी हुई किसी रस्सीमें अंधेरे उजेलेमें सांपका भ्रम हो जाय तो एक उल्टा परिज्ञान करने

से उसे कुछ क्लेश होंगे। हालांकि कोई विपदाका यहाँ अवसर नहीं है लेकिन चित्तमें जब उल्टी प्रतीति हो गयी तो अच्छे धाममें रहकर भी वह दुःखी हो रहा है। जब कभी कुछ साहस करके थोड़ा निकट जाकर जान जाय कि यह तो रस्सी है और भी निकट आकर जब रस्सीको हाथसे उठाकर पक्का निर्णय कर ले कि यह रस्सी ही है तब फिर बतावो इसको कहा कष्ट है? ऐसे ही हम जगतकी इस अनित्य पर्यायके सम्बन्धमें सोचते रहते हैं— यह मेरा है, भला है, सदा रहेगा, तो यों उल्टा परिज्ञान किया कि नहीं किया? देख लो ना, उल्टी श्रद्धा करने वाले कितने मनुष्य मिलेंगे, सबको अपने परिवारमें, कुटुम्बमें, पुत्रोंमें, मित्रोंमें, शरीरमें, वातावरणमें, मजहबमें, जाति कुलमें, आत्मीयता बसी हुई है, यह मेरा है, यह अच्छा है। तो जब वस्तुके सम्बन्धमें उल्टी बुद्धि बनी हुइ हो तो वहां विश्राम कैसे मिल सकता है, और, जब ही सही परिचय हो जाता है कि समस्त पदार्थ स्वतन्त्र हैं, भिन्न हैं, किसी भी परपदार्थसे मेरे आत्माका बड़प्पन नहीं है, मेरे लिए दुनियामें बाहर कोई शरण नहीं है, मेरे लिए शरण तो ज्ञानस्वरूपकी आराधना है। परमार्थसे शरण तो अपने आत्माका जो चैतन्यस्वभाव है, ब्रह्मस्वभाव है उसकी आराधना करना है। और फिर जिन आत्माओंने इस चैतन्यस्वभावकी उपासना की और उसके फलमें अत्यन्त विशुद्ध वीतराग निर्दोष तत्त्व सर्वज्ञ हुए, ऐसे आत्मावोंकी आराधना करना यह शरण है, अन्यत्र जगतमें कहीं कोई शरण नहीं है। जब यथार्थ ज्ञान हो जाय तब इसके समस्त कष्ट दूर हो जाते हैं। तब तक परमें आकर्षण था, कष्ट था। अब परका आकर्षण मिटा, आत्मा अपने आपमें विश्राममें आ गया। देखिये नाता केवल इतना ही है और का। किस ओर सम्यक् हुआ ज्ञान। बात यहीं तक है, इसके आगे और कुछ नहीं है। इसके आगे जो कुछ कल्पनाएँ करता है यह जीव वे सब बाहरी बाहरी बातें हैं, मुझमें नहीं हैं, मुझमें तो इतनी भर बात है कि यह ज्ञान मेरा किस ओर जा रहा है? बहिर्मुख हो रहा है या अन्तर्मुख हो रहा है। यहां केवल इतना ही दावपेंच है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मगर फल देखिये कि बहिर्मुख होनेका फल यह सारा संसार सक्लेश है और अपने आपके अन्तर्मुखी ज्ञान हो तो इसका फल आनन्द, शान्ति, सन्तोष, कल्याण सब कुछ श्रेय हम आपकी केवल इतनी भर दूकान है, इसके आगे कोई बात नहीं है। ज्ञान बाह्यपदार्थोंकी ओर जाननेके लिए उद्यत रहे या तो यह बात होती होगी या विरले पुरुष ऐसे भी हैं कि जिसका ज्ञान अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूपकी ओर लगा रहे, इस ओर दृष्टि रहे या यह बात होगी स्व और पर।

आत्मा और अनात्मा । प्रयोजनवश बात कही जा रही है । दो बातोंमें सब जगत आ जाता है—जीव और अजीव, आत्मा अनात्मा, एक विधिरूप और एक वृद्धिसेआरूप । तो एक तो यह हुआ निज और कोई भी जाननहार है, और बाकी हैं ये सब पर । परकी ओर उन्मुखता हो वहा सकट हैं और जहां स्वकी ओर उन्मुखता हो वहां सकटोंका अभाव है यह श्रद्धा हमारी दृढ बनी रहे । हम सदैव यह श्रद्धा बनायें कि सिवाय हम इतना काम करनेके और कुछ नहीं कर रहे हैं । बाहरी पदार्थ आते हैं, जाते हैं, रहते हैं, नहीं रहते हैं, क्या होता है, यह सब उनके ही स्वरूपमें काम चल रहा है । मेरेसे क्या सम्बन्ध ? उन सब बाह्यपदार्थोंका मेरेसे क्या रिस्ता ? जो आपके घरमें वैभव है उसकी बात कह रहे हैं । कहीं यह न समझना कि किसी गैरकी बात कह रहे हैं किन्तु वैभवकी नहीं कह रहे हैं । जिसमें मोह है उस विभूतिकी बात कही जा रही है । कुछ सम्बन्ध नहीं है ।

अन्तर्दृष्टि विना कल्याणलाभकी अशक्यता—अन्तर्दृष्टि करके निहारो, क्या मिलेगा अपने अन्तरङ्गमें ? है कोई अमूर्त ज्ञानमात्र पदार्थ जो इस देहके अन्दर रहता हुआ भी देहसे न्यारा है । लोग तो इस देहको ही निगाहमें रखकर व्यवहार करते हैं, कोई किसीका सम्मान करता हो, अपमान करता हो तो देहपर दृष्टि रखकर ही तो करता है । जितना लोकव्यवहार है वह सब बाह्यदृष्टि करके हो रहा है । कौन किस आत्मासे प्रेम करता है । यदि आत्म की दृष्टि करके करे तो एक अड़चन यह हो जायगी कि इसपर ही क्यों प्रीति की जा रही है । यह स्वरूप तो सर्वत्र एक समान है, फिर तो स्वरूपका स्नेह होगा, व्यक्तिका स्नेह न होगा । यदि कोई आत्माका परिचय करके मोह व्यवहार करना चाहता हो तो वह व्यवहार न बन सकेगा । मेरा व्यक्तिसे सम्बन्ध है और इस दृष्टिका स्वरूपसे सम्बन्ध है । और जहां तक व्यवहार है वहां तक सकटोंका सामना है । यह हमारा लोकव्यवहार छूटे और आत्मा आत्ममग्न हो वहा इसके सकट नहीं रह सकते । तो क्या करना है हमें शान्तिके लिए ? अपने आपमें ही कुछ करना है, बाहरमें कुछ नहीं करना है । अपने आपमें यथार्थपुरुषार्थ करने की कमी होनेपर यात्रा, पूजन दर्शन, सत्संग ये सब करने पड़ते हैं और ये सब इस ही लक्ष्यकी पात्रता बनाये रहनेके लिए करने पड़ते हैं । वास्तवमें करने योग्य कार्य तो आत्मश्रद्धान यथार्थरूपमें है । प्रयत्न करके जैसा जो कुछ सही अनुभव किया उस रूपमें ही सही श्रद्धा बनी रहे । मै यह हू, इस श्रद्धामें या तो कह लीजिए कि मै बुझ गया या यों कह लीजिए कि मैं अलौकिक प्रकाशमें आ गया । वहा फिर व्यक्तिकी रेखा नहीं रहती । ऐसा

अपने आपके स्वरूपका श्रद्धान हो और इस ही आत्माका ज्ञान हो और ऐसे श्रद्धान ज्ञानके प्रतापसे जो आनन्द पाया है उस आनन्दके लिए इस शुद्ध श्रद्धान ज्ञानमें निरन्तर निर्विकल्प अटूट ढंगसे अपनेको बनाये रहना यही है श्रद्धान ज्ञान और चारित्र। सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र यह शान्तिका मार्ग है। आत्मा स्वय सम्यक् है। इस सम्यक्का सम्यक्रूपसे श्रद्धान करना सम्यग्ज्ञान है। आत्मा स्वय सहज सम्यक् है, इस सम्यक्का इस ही सम्यक्रूप में ज्ञान करना सो सम्यग्ज्ञान है। यह अतस्तत्त्व स्वयं सम्यक् है। निर्दोष निर्लेप स्वचतुष्टयरूप स्वय सम्यक् है। इस सम्यक्आत्माका सम्यक्रूपसे आचरण करना, अपने आत्माका आच-रण है उपयोग। आत्मामें हाथ पैर तो नहीं हैं। तो इस उपयोगका इस सम्यक् सहज ज्ञानस्वभावमें बनाये रहना, रमाये रहना, स्थिर करना इसका ही नाम है सम्यक्चारित्र। तो ऐसा अपना विश्वास, अपना ज्ञान, अपनी ओरका झुकाव अपनी लगन, अपनेमें मग्न होना, निर्विकल्प अनुभव होना यही शान्तिका मार्ग है। इसके विरुद्ध वस्तुतत्त्वका परिचय न होनेपर अन्य-अन्य विकल्पोंमें इसे न शान्ति और न मुक्तिका मार्ग प्राप्त होता है।

क्रियावाद—वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमें जिसके विपरीत दृष्टि जगी है ऐसा पुरुष ध्यानसे सिद्धि नहीं कर सकता। इस प्रकरणमें कुछ मिथ्यादर्शनों के प्रकार बताये गए हैं। कुछ लोग क्रियावादी होते हैं। क्रियावादियोंका मंतव्य है कि यह जगत क्रियाका ही रूप है और क्रिया ही धर्म है और क्रिया ही तत्त्व है। क्रियावादमें ५ विषय होते हैं—काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव। क्रियावादियोंका मंतव्य है कि काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सब प्राणियोंको नष्ट करता है। काल कहो, समय कहो, यम कहो तथा सोते हुए प्राणियोंमें काल ही जगता है तथा सोते हुए प्राणियों को काल ही जगाता है। ऐसे कालको ठगनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है। इस प्रकार कालकी क्रियावोंको ही सब कुछ तत्त्व मानने वाले अपने आत्मा के विषयमें प्रमादी हुए विपरीत दृष्टिमें समय गंवाते हैं। भला ज्ञान ज्ञान में लीन हो जाय, ज्ञानस्वरूप ज्ञानका विषय रहे ऐसे पवित्र कृत्यकी पात्रता उन क्रियादृष्टियोंके कैसे जग सकती है।

अक्रियावाद—कुछ लोग अक्रियावादी होते हैं। इनका मंतव्य है कि यह आत्मा अनाथ है। जगतके ये सब जीव कुछ नहीं है। जैसे किन्हीं कम्पनियोंमें खेलके पुतले बनते हों तो उन पुतलोंमें क्या दम है, बनाने वालोंने बना दिया, इसी तरह ससारके जीवोंमें भी कुछ सार नहीं है, अनाथ हैं, ये कुछ भी कर नहीं सकते। इन आत्माओंको सुख दुःख, स्वर्ग

भोगना, नरक भोगना ये सभी बातें ईश्वर किया करता है। ऐसा क्रिया-शून्य सबको माने तो वह अक्रियावाद है। इसमें भले ही कुछ लोग ईश्वर की महिमा समझें किन्तु ईश्वरके स्वरूपका अवर्णवाद है वह। ईश्वर अनन्त ज्ञान अनन्त आनन्दका स्वामी होता है। ईश्वरमें रागद्वेष किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं रहता है। भला इस ज्ञानपुञ्ज आत्मतत्त्वमें किसी भी प्रकारका सकल्प जगना किसी भी प्रकारकी विभिन्न वृत्ति जगना यह तो लाछन है, गुण नहीं है। यह अंतस्तत्त्व समरससे पूर्ण है, वहाँ विभिन्नता कभी भी किसी भी काममें रंच नहीं होती है। हां कुछ विभिन्नता तो वह दोष है।

ईश्वर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्तिसे सम्पन्न है, सो अक्रियावादमें एक तो प्रभुके अवर्णवादका अपराध हुआ और फिर जब हम कुछ कर ही नहीं सकते तो जो कुछ भला बुरा कराया वह भगवानने कराया। मालिकके द्वारा प्रेरित जब किसी नौकरसे किसी का कोई काम बिगड़ जाय तो उसे मालिकका अपराध माना जायगा या नौकरका। किसी जीवसे किसी भी प्रकार सही, कोई पाप बन जाय तो क्या ईश्वरमें इतनी भी सामर्थ्य नहीं है कि उन्हें दु:ख न दे। अपने आपको क्रियाशील, परिपूर्ण न माननेसे केवल एक अपने आपको प्रमादमें मग्न कर लेना, आलस्यमें अपनेको बिताना यह एक बात रह जाती है। ईश्वरभक्ति का बहुत बड़ा प्रभाव है। और वह प्रभाव इस कारण है कि चूँकि मेरे स्वभावका और प्रभुके विकासका साम्य है, वह एक ही तत्त्व है, एक प्रकार का पदार्थ है इस कारण प्रभाव अवश्य पड़ता है। शुद्ध मनसे ईश्वरभक्ति कोई करे और यथार्थस्वरूपका चिन्तन करे तो अपने आपपर अवश्य प्रभाव होता है, और वह सुख शान्तिके लिए है।

ईश्वरवाद—कुछ लोग सुनते आये हैं या बड़े लोग कहते आये हैं इस कारण उसी श्रद्धामें रहते कि संसारमें एक ही तो आत्मा है, वही देव है, व्यापक है, छुटा हुआ है, चैतन्य है, निर्गुण है, वही उत्कृष्ट है, इतने सारे गुण गाये फिर भी हाथ क्या लगा? कुछ नहीं लगा। अपने स्वरूपमें अपना ज्ञान जमे तो वहाँ अवश्य निराकुलता आयगी। लेकिन अपने स्वरूपको छोड़कर किसी बाहरमें एक अथवा अनेककी कुछ भी कल्पनाएँ करते रहें तो ज्ञान ज्ञानमें नहीं जुड़ता, युक्त नहीं बैठता। यह सब क्रियावादके भेदमें मान्यता चल रही है।

नियतवाद व स्वभाववाद—कुछ लोग नियतवादको मानते हैं। जिस समय जिसके जैसा नियमसे होना है वह उस समय उसके होता ही है। ऐसे

नियमसे वस्तुपरिणमन मानना नियतवाद है। इस नियतवा में परिणमन विधिका लोप किया गया है। किस प्रकारसे, किस ढगसे, क्या निमित्त पाकर किन स्थितियोंमें बात बना करती है, जैसे कि एक विज्ञान वादमें उसका आविष्कार किया जाता है। हो गया व हुसट् जब जैसा होना था। यद्यपि कल जो होगा वह कल ही तो होगा, व भाव नहीं है, जिस समय जो हो वह होगा, मगर जो जिस पद्धतिपूर्वक होगा उस पद्धतिमें परिणमन करने वालेमें किस किस किस प्रकार परिणमन आविर्भूत होते हैं, उन दृष्टियों को हटाकर केवल नियतिको माने, वह नियतवाद है। नियतवादमें स्वभावाश्रयका बल नहीं होता है।

स्वभाववादमें केवल स्वभाव स्वभाव ही माना जाता है। शाश्वत स्वभाव नहीं, किन्तु पर्यायोंके स्वभावको ही तत्त्वकी बात कहते हैं। सब बातें प्रकृतिसे होती हैं। काँटेको नुकीला किसने बनाया? स्वभावने। ये पशुपक्षी भी चित्र विचित्र किसने बनाये? सब प्रकृतिने बनाये। मनुष्य जिस ढंगका होता है उसी रग ढगका होता है, किसी मनुष्य पर गाय बैल जैसे रोम अथवा सींग न देखा होगा। किसी गधक अथवा खरगोशके सिर पर सींग न देखा होगा। सो ये सब बातें क्रियावादी कहते हैं कि स्वभावसे हुई हैं, इसमें विधिका लोप किया गया है, जितनी भी विभिन्नता होती है वह स्वभावसे नहीं होती किन्तु जैसा निमित्त पाकर जिस परिणमन योग्य उपादानमें जो बात चलती है, चलती है उस उपादानकी ही परिणतिसे, किन्तु वहाँ विधि है, उस विधिका लोप किया गया क्रियावादमें। तो होने की बातको अनेक रूपसे माने सो सब क्रियावाद है।

अज्ञानवादी निषेध निषेधको ही किया करते हैं। कुछ नहीं है, न परिणमन है, न जीव है, न तत्त्व है। ऐसा शून्य जैसा सिद्धान्त अज्ञानवाद में है। कौन देख आया कि जीव है या नहीं है। जो सप्तभगोंसे जीवके बारेमें या किसीके बारेमें वर्णन करते हैं उन सबको कौन देख आया, कौन जानता है? इतना बड़ा अज्ञानका मतव्य बनाना अज्ञानवाद है।

विनयवाद—एक होता है वैनयिकवाद। लोकमें ८ प्रकारके जीव विनय करने योग्य हैं। देव, राजा, ज्ञानी, मुनि, बूढ़े लोग, बालक, माता और पिता। इनकी विनय करना लोक व्यवहारमें योग्य है कि नहीं है। किन्तु यह विनय करना ही आत्मधर्म है ऐसी मान्यता आना सो मिथ्यात्व है। इनका विनय न करनेसे हानि है, इनके प्रति विनय होना ठीक है, किन्तु यही मोक्षमार्ग है, इसीसे उद्धार होता है जैसा कि अनेक लोग मानते हैं— भाई माता पिताका विनय करो तो तुम्हें मोक्ष मिलेगा। उसे एक आत्म-

धर्मके रूपमे मानना और अपने आत्माकी ओरसे बेसुधी होना यही है मिथ्याभाव।

यदि देवका विनय न करें तो वह कुपात्र है, ठीक नहीं है। राजाकी विनय न करे तो तुरन्त क्लेश मिले, ज्ञानीका विनय न करे तो यों ही उसका मूढ़ व्यवहार रहेगा, वह यत्र तत्र आपदायें भोगेगा। मुनिका विनय न करे तो उसके परिणामोंमें उच्छृंखलता रहेगी, विपदा ही पायेगा, बूढ़ों का विनय न करे तो उससे भी अनर्थ है। प्रथम तो बुजुर्गोंमें बुद्धि प्रतिभा गम्भीरता बहुत होती है, आखिर सारी जिन्दगी अनेक प्रकारके अनुभवमें बितायी है। तो उनमें बुद्धि विशेष है—एक बात, दूसरे कोई बूढ़े सठिया भी जाये तो उन बूढोंका अपमान करनेका जो भाव रखते हैं उनकी बुद्धिमें स्वच्छता नहीं रह पाती और फिर वे भी बूढ़े बनेंगे तब उन्हें कौन पूछेगा ? तो बूढ़ोंका विनय न रखनेसे लोकमें कितनी अव्यवस्था बनेगी। बालकोंका भी विनय करना चाहिए। अगर आप उन्हें तू तू करके बुलायेंगे तो उसमें नुक्सान सम्भव है, उनकी बुद्धि विकसित नहीं हो पाती, और, फिर वे बालक भी वैसा ही तू तू करके जवाब देंगे। आप विनयपूर्वक बालकोंको बुलाते हैं तो उससे आपको लाभ है। वे भी आपसे विनयपूर्वक बोलेंगे। बड़े-बड़े घरानोंमें ऐसा रिवाज भी रहता है। बालकों से विनय रखनेसे घरका अच्छा वातावरण रहता है, और, माता पिताके विनय बिना भी कुगति है, तो यद्यपि इनका विनय करना चाहिए, पर विनय से ही जो सिद्धि मानते हैं अथवा कोई कोई गुण और अवगुणकी परीक्षा किए बिना भी विनयसे ही मुक्ति मानते हैं, इसको मिथ्याभाव कहा है। तो यों इन मिथ्या दर्शनोंसे जिनका चित्त वासित है ऐसे पुरुष ध्यानके पात्र नहीं होते।

पहिले गेहाश्रममें निवासकी निन्दा की गई थी कि गृहवासमें रहकर ध्यान नहीं बनता, अब यहाँ मतव्य और विचारमें परीक्षण किया जा रहा है। वह चाहे गृहस्थ हो चाहे यती हो, किन्तु मतव्य यदि मिथ्याभावका है तो उसे ध्यानकी सिद्धि नहीं है। अर्थात् यह ज्ञान ज्ञानमें मग्न होकर निर्विकल्प हो जाय और अपने आनन्दामृतका चिरकाल तक अनुभव करता रहे, यह सिद्धि मिथ्यादृष्टियोंके नहीं होती है।

ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः स्यात्ततोऽन्यः शास्त्रविस्तरः।
मुक्तेरुक्तमतो बीजं विज्ञान ज्ञानवादिभिः ॥३०५॥

ज्ञानवाद—अब दर्शन ज्ञान और चारित्रमें एक-एक अथवा दो दो अथवा तीनोंको निरपेक्ष होकर जो एकान्त हठ करनेका मतव्य है उसमें भी

सिद्धि नहीं होती है, इस बातको बतावेंगे। कोई लोग ज्ञानसे ही सिद्धि मानते हैं, जितना जो कुछ शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन है उसे एक विस्तार-मात्र कहते हैं, ज्ञानका ही विस्तार है। कुछ चारित्रके भी ग्रन्थ हैं। कुछ कथानकोंके भी ग्रन्थ हैं, कुछ युक्तियोंके भी ग्रन्थ हैं, वे सब एक विस्तार-मात्र हैं, मात्र ज्ञान हो उससे इष्टसिद्धि होती है अर्थात् मुक्तिका कारण एक ज्ञान ही है, ऐसी श्रद्धा न ज्ञानकी अपेक्षा न रखकर एक केवलज्ञानसे ही सिद्धि मानते हैं, ये भी मिथ्यावादी हैं।

कैश्चिच्च कीर्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम्।
वादिनां खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम्॥ ३०६॥

श्रद्धावाद—कुछ लोगोंने एक श्रद्धासे ही मुक्ति मानी है। श्रद्धा कर लें बस मुक्ति है। प्रथम तो कोई केवल ज्ञानको मानता, कोई केवल श्रद्धाको मानता, कोई केवल चारित्रको मानता, माने, फिर यदि यथार्थरूपमें मान लें तो ज्ञानके माननेमें तीनों आ गए, श्रद्धाके माननेमें तीनों आ गए और चारित्रके माननेमें तीनों आ गए लेकिन यथातथा मनगढन्त अपनी कल्पनाओंके अनुसार किस ही को ज्ञान मान ले, किस ही स्थितिको श्रद्धा मान ले किस ही स्थितिको आचरण मान ले तो उसकी यह चर्चा है। कुछ लोग नयोंका निराकरण करके अर्थात् वस्तु विज्ञानकी बातको तिलाञ्जलि देकर केवल श्रद्धासे ही मुक्ति मानते हैं। यद्यपि किन्हीं किन्हीं बातोंमें श्रद्धासे पुण्यबंध तो चलता है पर मुक्तिका कारण उनकी कल्पनाकी हुई श्रद्धा नहीं है। बहुत बहुत श्रद्धालु पुरुष ऐसे भी हुए हैं, किन्हींका यह नियम था कि बड़े सुबह उठकर मंदिर जाना, बोहारीसे भाड़ना। उनका यह ध्यान भी रहता था कि हम पूजा करना नहीं जानते तो हम यह करें, इसीसे ही पार हो जायेंगे। यद्यपि बात कुछ दर्जे तक ठीक तो है लेकिन जहाँ एक मुक्तिके मार्गके प्रसंगकी बात है वहाँ तो एक सौ टंच जैसा निर्णय किया जाता है। वहाँ शुभ भावोंको भी स्थान नहीं दिया गया है। पुण्यको भी वहाँ समर्थ नहीं कहा गया है। तब कोई अपनी कल्पनानुसार किसी श्रद्धासे मुक्ति माने तो वह भी मिथ्यावाद है।

अन्यैर्वृत्तमेवैकं मुक्त्यङ्गं परिकीर्तितम्।
अपास्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यविफलभ्रमे ॥३०७॥

क्रियावादके आग्रहमें ज्ञानदर्शनशून्यता—कुछ लोगोंने क्रियाको ही मुक्तिका कारण माना है। ज्ञान और श्रद्धाको व्यर्थ मानकर उनका खंडन भी किया है। लगे जावो तपस्यामें, गर्मीके, ठंडके ये सब तपश्चरण कर रहे हैं। ज्ञानी क्या ऐसा करता नहीं? करता है, पर ऐसा करते हुएमें उनका

अंतरङ्ग उद्देश्य क्या है, इस बातको न समझकर केवल क्रियाकाण्ड और देहकष्ट बाह्य तपश्चरणोंसे अपने आपको मुक्तिके मार्गमें जाता माने तो उसका यहाँ निषेध किया है। जो कोई धान खरीदता है तो उसके अन्दर सारभूत चावल तो रहते ही हैं, पर ऊपरसे देखनेमें तो वही मटमैले रंग का कोई अनाज है। कोई मूढ माने उस रंगकी भूस खरीदकर व्यापार करे, कीमत वही चुकाये जो चावलसहित धान खरीदने वालेने चुकाया तो क्या उसे कोई कुशल कहेगा? वाह उसी रंगका मैंने खरीदा जिस रंगका इसने खरीदा, पर मुझे टोटा क्यों पड़ गया? ऐसे ही जैसा तपश्चरण ज्ञानीने किया वैसा ही अज्ञानीने किया, पर अज्ञानीको न अनाकुलता मिली, न शान्ति मिली, और कहो पहिले तो शान्तिसे रहता था और अब अशान्तिसे रहता हो, पद-पदपर कहो क्रोध आता हो। भला इतना तो ऊँचा तपश्चरण किया और अब न विशेष सन्मान मिलता, न लोग प्रशंसा करते, तब गुस्सा न आये तो और क्या हो, जैसे घरमें कोई उपवास कर ले किसी दिन तो घर वालोंको २-१ बार उसकी प्रशंसा तो कर देनी चाहिए, नहीं तो बात-बातमें उसे क्रोध न आयगा तो और क्या होगा। एक तो भूखा भी मरे, दूसरे घर वाले ताना मार रहे, तो इसमें तो क्रोध ही जगता है। यह क्या हाल हो रहा है? एक लक्ष्यसे भ्रष्ट होनेसे, उद्देश्य सही न बन सकने से इन क्रियाकांडोंमें वह बात नहीं आ सकती जो ज्ञानियोंके प्रकट होती है। लेकिन ज्ञान और श्रद्धानको व्यर्थ मानकर केवल क्रियावोंसे ही जिसने नेह लगाया है और उस क्रियाको ही जिसने मुक्तिका कारण माना है ऐसा पुरुष क्रियावोंको करके भी मिथ्यावादसे दूषित होनेसे ध्यान में सफल नहीं होता। ध्यानकी सफलताका उत्तम इतना ही अर्थ है कि यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपमें मग्न हो जाय, और निराकुल आनन्दामृतका अनुभव करता रहे। इसकी पात्रता इन मिथ्या सिद्धान्तोंके मंतव्यमें नहीं होती।

विज्ञानादित्रिवर्गेऽस्मिन् द्वे द्वे इष्टे तथा परे।
स्वसिद्धान्तावलेपेन जन्मसन्तानशातने ॥२०८॥

रत्नत्रयकी एकताके बिना सदृष्टोंकी असमाप्ति—जैसे मिथ्यावादियोंके क्रियावाद आदि ढंगसे सिद्धान्त बताया था इसी प्रकार श्रद्धान, ज्ञान और चारित्रमें किसी एकको अथवा दो को या तीनोंका निषेध करनेका भी सिद्धान्त मिथ्यावाद है। कितने ही वादी अपने सिद्धान्तके गर्वसे अपने मान्यता की हठ से तीन के प्रकरण में संसार संतति के नाश की परिपाटीमें कोई एक श्रद्धान अथवा चारित्र अथवा ज्ञान और चारित्रको अथवा श्रद्धान और ज्ञानको ही इष्ट करते हैं, कोई तो दर्शन

ज्ञानको ही मोक्ष मानते हैं—कोई दर्शन और चारित्रसे ही मोक्ष मानते हैं और कोई-कोई ज्ञान और चारित्रसे ही मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार ये तीनों वादी भी यथार्थ नहीं हैं, और इस मिथ्या मान्यतामें उन्हें ध्यानकी सिद्धि नहीं होती।

एकैक च त्रिभिर्नष्टं द्वे द्वे नष्टे तथाऽपरैः।
त्रय न रुच्यतेऽन्यस्य सप्तैते दुर्दृशः स्मृता ॥३०६॥

रत्नत्रयके निषेधविकल्पोंसे सप्त प्रकारके मिथ्यादृष्टियोंका कथन—श्रद्धान ज्ञान और चारित्रके निषेधमें इनके विकल्पसे ७ प्रकारके मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। जैसे कोई तीन चीजें हों तो उनके ७ विकल्प होते हैं। तीन तो वे चीजें हैं ही और उन तीनोंमें दो दो मिला लें तो ६ चीजें हो गई और ६ को मिलानेसे ७ चीजें होती हैं। जैसे साग रोटी और पापड़। ये तीन चीजें हैं, इनको ७ ढगसे खाया जा सकता है। रोटी साग मिलाकर खायें, रोटी पापड़ मिलाकर खायें, साग पापड़ मिलाकर खायें और तीनों को मिलाकर खायें, एक-एक करके खायें। सप्तभगमें भी यही बात है। कुछ भी चीज सिद्ध करना हो तो उसके विपरीत भी कुछ बात है किसी विवक्षा से। जैसे जीवको नित्य सिद्ध करना है तो नित्य तो सिद्ध कर दे, किन्तु किसी विवक्षासे जीव अनित्य भी है। उसके एकान्तमें खण्डन नहीं किया जा सकता। जीव द्रव्यदृष्टिसे तो नित्य है तो पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, कुछ भी कहो—स्याद्वादसिद्धान्त बताता है कि उसके विपरीत भी कुछ है, मुंहसे कुछ भी बोला तो दो बातें तो हो ही गई। जैसे कोई कहे कि हमारी यह बात सच है। तो इसके विरुद्ध दूसरी बात इसमें यह भी गर्भित है कि हमारी बात झूठ नहीं है। जीव नित्य है तो दूसरी दृष्टिसे यह भी है कि जीव नित्य नहीं है सारा जहान सप्रतिपक्ष है। कुछ भी एक शब्द ले लो, जीव है तो साथमें अजीव लगा है। जैन है तो अजैन लगा है। कुछ भी शब्द हो उसके विपरीत भी कुछ बात है। तो एक भी बात कहनेपर दो बातें तो हो ही गयीं। दूसरी बात मुखसे कहो अथवा न कहो, जब दो बातें हो गयीं तो दोनोंको एक साथ बोला नहीं जा सकता। तो तीसरी और हो गयी अवक्तव्य। तीन धर्म होना तो प्राकृतिक बात है, बोल बोलमें शब्द शब्दमें। जो कहे वह एक उसका प्रतिपक्षी और एक अवक्तव्य। तीन तो स्वतन्त्र धर्म हैं फिर इसमें दो दो का भग करें तो तीन और होते हैं नित्यानित्य, नित्यअवक्तव्य और अनित्यअवक्तव्य। और, तीनको मिलाकर एक और होता है। इस तरह ७ भग होते हैं। इस प्रकार इस प्रकरण में श्रद्धान ज्ञान और चारित्रका विनाश किया गया है ना अधर्ममें। मिथ्या-

वादियोंकी तीन बातें हुईं—श्रद्धाननिषेध, ज्ञाननिषेध और चारित्रनिषेध, तीन तो इस तरहके लोग होते हैं, और तीन होते हैं श्रद्धानज्ञाननिषेधक, श्रद्धानचारित्रनिषेधक और ज्ञानचारित्रनिषेधक। ६ हुए, और १ हुआ श्रद्धानज्ञानचारित्रनिषेधक। इस तरह ७ मिथ्यादृष्टि जीव ये हुए। जिसने दर्शन और ज्ञान दो को ही मोक्षका मार्ग माना उसने तो चारित्रको नष्ट किया। देखिये इस मिथ्यावादीको, पहिले तो इन शब्दोंमें कहना था कि केवल दर्शन और ज्ञानसे ही जो मोक्ष माने वे मिथ्यावादी हैं। इस ही को इन शब्दोंमे कह लो, जो चारित्रका निषेध करे वह मिथ्यावादी।

स्याद्वादशासनमें वस्तुपरिचयकी पद्धति—जैनदर्शनने वस्तुस्वरूपके जानने का उपाय कितना मजबूत बताया है कि जिसकी प्रशंसा करनेको शब्द नहीं हैं। प्रत्येक पदार्थ सब प्रतिपक्ष हैं। कोई भी चीज यदि है तो वही नहीं भी है। यह बात केवल सिद्धान्तमें नहीं प्रत्येक व्यवहारमें लोग बर्ताव करते हैं। यह अमुकचंद जी हैं ऐसा जिसने जाना उसके जाननेमें यह भी साथ लगा हुआ है कि इसके सिवाय यह और कोई नहीं है, पर यह तो स्याद्वाद है। स्याद्वाद शब्द शब्दमें, ज्ञान ज्ञानमें अर्थ अर्थमें सर्वत्र स्याद्वादकी मुद्रा छिपी है। इसी कारण बताया है कि जिस ज्ञानमें, जिस शास्त्रमें स्याद्वादकी मुद्रा न हो तो वह प्रमाणिक नहीं है। जैसे व्यापारी लोग ट्रेडमार्क बनाये रहते हैं—जिसपर यह मार्क न हो उसकी हम गारन्टी नहीं ले सकते। इसी प्रकार जिस शास्त्रमें स्याद्वादकी मुद्रा न हो वह प्रमाणिक नहीं है। जैसे कहा गया कि यह अमुकचद हैं तो इसके साथ ही इसके अतिरिक्त अन्य कोई चंद लाला प्रसाद नहीं हैं। इनमेंसे किसी एकका खण्डन तो करें, सब मिट जायगा। यह अमुकचंद हैं यह बात न मानें तो फिर व्यवहार ही क्या, और अन्य कोई यह नहीं है। यह बात न माने तो यह अन्य कोई सब बन बैठे। फिर व्यवहार क्या ? तो प्रत्येक व्यवहारमें स्याद्वादका शरण लिया है सब मनुष्योंने। जो स्याद्वादका निषेध करते हैं वे भी स्याद्वादका निषेध करते हैं वे भी स्याद्वादके बलपर ही निषेध करते हैं। जो रहते हैं, व्यापार करते हैं, रिस्ता सम्बन्ध मानते हैं, खाते हैं, यह सब स्याद्वादके बलपर है। तो उसे ज्ञान तो है कि यह रोटी खाता है तो उसमें यह भी बसा हुआ है कि यह कंकड़ पत्थर वगैरह नहीं खाता है। अब किसी एकको मना करके तो देखो—उसका खाना ही खतम हो जायगा। तो स्याद्वादके बिना कोई खा नहीं सकता, जी नहीं सकता, रह नहीं सकता, व्यवहार हो नहीं सकता, किन्तु मोहका ऐसा प्रताप है जिसके बलपर रह रहे हैं मोहीजन ऐसे कृतघ्न हैं कि उसीका निषेध करते हैं। वस्तुविज्ञानका उपाय मजबूत और

उपायोंसे जो वस्तुधर्म बताया वह भी अकाट्य। लोग तो कहीं पृथक् व्यक्तिके रूपमें ब्रह्मा विष्णु महेश मान रहे हैं, पर यहाँ तो कण कणमें ब्रह्मा विष्णु महेशपना पाया जाता है। ब्रह्माका काम सृष्टिका है तो पदार्थमें जो उत्पाद हो रहा है वही ब्रह्मत्व है। महेशका काम बताया संहार करनेका, तो वस्तुमें प्रतिक्षण जो पर्यायका विनाश चल रहा है वही महेशत्व है। विष्णुका काम बताया रक्षा करना, बनाये रहना, यही ध्रौव्यका अर्थ है तो विष्णुत्व भी प्रत्येक पदार्थमें निरन्तर पाया जाता है। इन्हीं शब्दोंको तात्त्विक शब्दोंमें उत्पादव्ययध्रौव्य कह लीजिए। है लोकमें कोई ऐसा पदार्थ जिसमें उत्पादव्ययध्रौव्यमें से एक भी बात हीन हो गयी हो? मोक्षमार्गके सम्बन्धमें भी देख लो—जिसको हमें मुक्त करना है उसका श्रद्धान ज्ञान और चारित्र हो तब ही वह मुक्त हो सकता है यह बताया है। कुछ भी काम करना हो उस कामकी विधियोंका लक्षणोंका श्रद्धान हो, आचरण हो तो वह काम बन सकता है। इसे व्यापारमें घटा लो लौकिक विद्याभ्यासमें घटा लो, किसी भी कामकाजमें घटा लो, विश्वास, ज्ञान और आचरण बिना किसीको उस काममें सिद्धि हुई है क्या? तो आत्ममुक्ति अर्थात् कैवल्य विकास जैसा महत्त्वपूर्ण इस बबलके श्रद्धान ज्ञान और आचरण बिना सम्भव है क्या? मोक्षमार्ग भी किसी ढंगसे बताया है। जितना उपकार हम आप लोगोंपर महर्षि जनोंका है जिसके प्रसादसे हमारे ज्ञाननेत्र खुले और हम सदाके लिए संसारसंकटोंसे छूटनेका उपाय कर सकते हैं, उनका आभार माननेके लिए भी कोई शब्द हैं क्या दुनियामें?

रत्नत्रयकी विकलतामें श्रेयोलाभका अभाव—इस ध्यानके प्रकरणमें ध्यानका पात्र कौन नहीं है, किसको सिद्धि नहीं हो सकती यह बताया जा रहा है। और, इस श्लोकमें कह रहे हैं कि श्रद्धाका निषेध, ज्ञानका निषेध, चारित्रका निषेध और दो दो का निषेध और तीनका निषेध करने वाले ७ प्रकारके मिथ्यादृष्टियोंको भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। तो एक तो ऐसे थे ये जो चारित्रको नष्ट कर रहे थे, और जो श्रद्धान को नष्ट करते हैं अर्थात् ज्ञान और चारित्रसे ही मुक्ति मानते हैं, श्रद्धानका निषेध करते हैं वे भी मिथ्यावादी हैं। यहाँ भी सप्रतिपक्ष कथन आ गया। चाहे यह कहो कि श्रद्धानका निषेध करने वाले और चाहे यों कहो ज्ञान और चारित्रसे ही मुक्ति मानने वाले ये दूसरे नम्बरके मिथ्यावादी हैं, और तीसरे वे मिथ्यावादी हैं जो केवलज्ञान, श्रद्धान और चारित्रसे ही मुक्ति मानते हैं अर्थात् ज्ञानका निषेध करते हैं। अब तीन प्रकारके मिथ्या विकल्प हैं दो दो का निषेध करनेमें। केवल श्रद्धानको ही मोक्ष माने। ज्ञान और चारित्र

का निषेध करें, ये चौथे नम्बरके मिथ्यावादी हैं, और ५वे जो ज्ञानसे ही मुक्ति माने, श्रद्धान और चारित्रका निषेध करे, छठे वे जो चारित्रसे मुक्ति मानें दर्शन और ज्ञानका निषेध करे और ७वें मिथ्यादृष्टि वे हैं जो तीनोंका ही निषेध करते हैं। अज्ञानी और ज्ञानीकी परस्पर समझमें कितना बड़ा अन्तर है, जब कि अज्ञानी पुरुष धर्मपालन करने वालोंको बिगड़े दिमाग वाले हैं इस रूपमें तकता है। क्या है, ढोंग है, सारे अवगुण ही अवगुण दिखते हैं। उनका अपना एक श्रद्धान है, विपरीत भाव है, उस भावसे उसे धर्मपालक ज्ञानीजन सब अयोग्य नजर आते हैं। और, ज्ञानी पुरुषको साक्षात् कुछ आनन्दका भी अनुभव हुआ, शान्तिका भी कुछ अनुभव होता और उस ज्ञानीका प्रकाश भी स्पष्ट है। यह एक जाननमात्र आत्मा और इसमें ही केवल जाननहार रहे, मग्नता रहे तो उसमें ऐसी शान्ति है और यह बढाता रहेगा तो यह अनुपम आनन्द है। उत्कृष्ट पद है ऐसा साफ नजर आता है, और अज्ञानी जीव ये सब कितने बड़े भ्रममें पड़े हैं, ससार में रुलते हैं यह बराबर समझमें आता है। अब वहाँ अज्ञानी तो हठ कर सकता है, ज्ञानीसे लड़ सकता है पर ज्ञानी पुरुष हठ क्या करे, लड़ाई क्या करे। अगर कुछ पात्र अज्ञानमें समझे तो भी समझा सकता है। इसी कारण तत्त्वनिर्णयके प्रसगमें यदि कुछ ऐसी चढाचढ़ीका वातावरण बनता है कि जिसमें रागद्वेषकी सम्भावना है तो वह कहता है कि इससे मुझे विवाद नहीं करना है क्योंकि राग और द्वेष उत्पन्न होनेका अवसर आ गया, इतनी निर्लेप अकल्प रहनेकी भावना ज्ञानीमें होती है।

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥२१०॥
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥२११॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी विकलतामें उदाहरणपूर्वक अलाभका कथन— ज्ञानहीन पुरुषमें कोई क्रिया हो तो वह फलको देने वाली नहीं होती है। जैसे जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई अर्थात् अंध पुरुष है वह चलते चलते किसी प्रकार वृक्षकी छायामें भी पहुंच जाय तो क्या वह उसके फलको पा सकता है? अर्थात् जैसे अन्धकी क्रिया फलको प्राप्त करनेमें असमर्थ है ऐसे ही ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया मुक्तिरूपी फलका पानेमें असमर्थ है। जैसे जब कोई अचानक वनमें घिर जाता है जहाँ सूर्यका दर्शन ही नहीं है अर्थात् दिशामात्रका भी जहाँ ज्ञान नहीं हो सकता ऐसी दशामें क्या दिशाका भी पता पड़ सकता है? जैसे अंधेरी रात्रि में इतनी अंधेरी रात हो कि कुछ

दिखता न हो तो अपने कमरेके बीचमें पड़ा हुआ पुरुष दिशाका भी परिज्ञान नहीं कर सकता। भले ही अपनी खाटसे इस करवटसे उठकर रोज जाते थे, टो टा कर दरवाजा पा जाते थे, पर समझबूझकर दिशाका ज्ञान नहीं हो सकता कि यह दिशा है। कोई अपरिचित आदमी किसी हालमें अंधेरी रातमें लेट जाय तो बाहर जानेको चारों ओर हाथसे टटोलकर देखना है कि दरवाजा कहाँ है, ऐसे ही जिस भयानक वनमें दिशाका पता नहीं पड़ता, जहाँ सूर्य वगैरहका कोई प्रकाश नहीं है। जितना चाहे चलता जाय पर दिशाका पता नहीं पड़ता. ऐसे ही यदि ज्ञान न हो तो यहाँकी सारी क्रियावोंमें सफलता पानेकी कोई गारन्टी तो नहीं हो सकती। यों ही समझो कि ज्ञानहीन पुरुष व्रत, तप, आदिक क्रियायें हों तो भी वह फल को नहीं प्राप्त कर सकता। हाँ इतनी बात है कि जैसे अन्धा पुरुष चल चलकर वृक्षकी छायामें पहुच जाय तो छायाका कुछ मौज और सुख पा लेगा, पर फल नहीं मिल सकते, इसी प्रकार ज्ञानहीन पुरुष श्रद्धाहीन पुरुष किसी भी प्रकार मदकषाय करके क्रियावोंसे, तपश्चरणसे स्वर्गादिक देवपद प्राप्त कर ले, भले ही वैषयिक सुख प्राप्त कर ले, लेकिन मुक्तिका जो अन्तिम फल है उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जैसे अन्ध पुरुष फलको नहीं जानता तो उसके तोड़नेकी क्रिया भी नहीं कर सकता। और, कोई लगड़ा हो जो वृक्षके फलको जानता तो है, देख लेता है पर एक पग भी जो नहीं चल सकता है, पैर जिसके टूट गए हैं वह भी फलको नहीं पा सकता, इसी तरह ज्ञान भी हो लेकिन आचरण नहीं है तो ज्ञानसे भी मुक्तिके फलको प्राप्त नहीं कर सकता। उस ज्ञानकी चर्चा चल रही है। जो केवल एक ऊपरी जानकारी मात्र है श्रद्धासहित ज्ञान हो तो उसमें श्रद्धा ज्ञान और स्वयका आचरण तो आ ही जाता है फिर अब उसकी वृद्धिका प्रसग आगे चलने लगता है। ऐसी बहुतसी जानकारियां होती हैं कि जानते हैं पर अपने आपमें बात घटित नहीं कर पाते भली प्रकारसे। जैसे हम दसों बीसोंको मरते तो देख चुके है पर अपने आपके बारेमें वह नक्शा सामने नहीं बन पाता है कि मैं भी इसी तरह अचानक किसी दिन चला जाऊँगा। बातें भी कर लेंगे, बातोंमें कसर नहीं रख सकते पर नक्शा नहीं खिचता। तो ऐसी भी जानकारिया होती हैं कि अन्तरमें घटित नहीं हैं और ज्ञान बन रहे हैं। तो ऐसे ज्ञानसे भी विवक्षित अभीष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती। तो यों ज्ञानचारित्रमें एक एकको नष्ट करने वाले भी मिथ्यावादी हैं और उनके भी ध्यानकी सिद्धि नहीं है।

हतं ज्ञान क्रियाशून्य हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥३१२॥

क्रियाशून्य व ज्ञानशून्य जनोंकी विडम्बना—चारित्रशून्य ज्ञान नष्ट समझिये और ज्ञानशून्य पुरुषका चारित्र भी नष्ट समझिये। जैसे अंधे पुरुषमे चलनेकी देखनेकी शक्ति तो है पर किसी जगलमे आग लगी हो वहाँ कोई अंधा और लंगड़ा फँस गया हो तो अंधा उसमें दौड़कर नष्ट हो जाता है। कहाँ दौड़कर ? जिस ओर आग लगी हो उस ओर ही दौड़ बैठे। तो जैसे अंधा पुरुष दौड़कर ही नष्ट हो जाता है और लगड़ा पुरुष देखता हुआ भी नष्ट हो जाता है इसी प्रकार ज्ञानशून्य पुरुष अनेक क्रियायें करके भी मुक्ति फलको प्राप्त नहीं कर पाते हैं। और, चारित्रशन्य पुरुष ज्ञान होनेपर भी मुक्तिरूपी फलको प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे लोग कहते हैं जान तो लिया पर करे नहीं तो उससे सिद्धि नहीं होती। जैसे कमेटियोंमें प्रस्ताव तो कर लिया और उसका अमल न करे तो उसका काम बनता है क्या ? और कोई बातें ऐसी होती हैं कि काम तो अधिक कर डाला पर प्रस्ताव या रजिस्टरमें उसकी कार्यवाही न हो तो वह काम भी प्रशसनीय नहीं माना जाता है। यदि वे जलते हुए जंगलमें अधे और लगड़े परस्परमें मित्र बन जायें और अधेके कंधेपर लंगड़ा बैठ जाय, लगड़ा रास्ता बताता जाय और अंधा आगे बढ़ता जाय तो वे दोनों बच सकते हैं। अर्थात् वहाँ शान्ति और क्रियायें दोनों एक साथ हो गयीं। उस एक घटनामें लंगडेकी तो दृष्टि है और अंधेका चलना है तो काम बन जाता है। यह तो है उनकी बात। अब दाशनिकोंकी बात देखो—कोई दार्शनिक ऐसी घटनाको देखकर और विवेक न करके यह मान ले, जैसे कहते हैं लंगडेकी दृष्टि अधेमें जोड़ दें अर्थात् यह अंधा खूब काम कर रहा है, इसमें देखना भी गर्भित हो गया, चलना भी गर्भित हो गया, लंगड़ेकी दृष्टि उस अंधेमें लगा लें तो वह दार्शनिक भी भ्रममें है। इसी तरह यह जीव क्या करता है, चल तो रहा है यह शरीर और जान रहा है आत्मा। आत्माकी जानकारीको लोग शरीरमें लगा बैठते हैं। लोगोंसे व्यवहार करते समय कुछ विवेक रखना यह तो अचेतन हैं जो इतना बड़ा खड़ा है, बैठा है, सामने है। यह सब जड़ है, जानने वाला तो इसका अन्तरात्मा है, उसीसे मैं बात करता हू, कोई ऐसा सोचता भी है। जो दिखाई देता है, जो जड़ है, उसीको ही लोग जानकर समझकर बात करते हैं। कोई भाई आया, साहब यह बड़े विद्वान हैं, दृष्टि सबको इस जड़ शरीरपर गई। न कहने वाला कोई न सुनने वाला कोई, यह विवेक नहीं करते कि यह तो जड़ पौद्गलिक है। जानने वाला तो जीव है। तो जैसे

कोई पुरुष उस अंधे और लगड़ेकी घटना, लगड़ेकी दृष्टि उस अंधेमें जोड़ दे, ऐसे ही ये दार्शनिक लोग जीवकी दृष्टिको, जीवके ज्ञाननेत्रको इस जड़ शरीरमें जोड़कर व्यवहार करते हैं। प्रकृतमें बात यह कही गई है कि ज्ञानहीन क्रिया भी सफल नहीं और क्रियाहीन ज्ञान भी सफल नहीं। मनुष्योंकी नकल बन्दर बहुत कर लेते हैं, और जैसा मनुष्य करें वैसा करते हैं पर उनकी सिद्धि कुछ नहीं होती। मनुष्यको वृक्षपर खड़े हुए बन्दर यह देख लें कि इन्होंने जाड़ा कैसे मिटाया। चारों ओरसे घासफूस उठाकर जोड़ा मनुष्यों ने, फिर उसमें लाल लाल चीज छोड़ी और फिर बैठकर मुँहसे फूँक लगाया और फिर हाथपर हाथ धरकर तापने लगे। मनुष्य तो चले जायें, दूसरे दिन बन्दर भी ऐसा करने लगे, चारों ओरसे घासफूस जोड़ लें और लाल चीज डालें, सो चारों ओर देखा कि लाल चीज है कहाँ, तो पटबीजना पकड़ पकड़कर उसमें घोंस दिया और चारों तरफ बैठकर मुँहसे फूँक भी लगा दिया और हाथपर हाथ धरकर तापने लगे, तो क्या जाड़ा मिट जायगा ? वे ज्ञानहीन क्रियायें हैं बन्दरोंकी। और, क्रियाहीन ज्ञानसे भी सफलता नहीं मिल सकती। जो बड़े लेक्चरार होते हैं व्याख्यान देने वाले, जहाँ हजारों लाखोंकी भीड़ जुड़ती है, नेता कहलाते हैं। नेतावोंका धन है बोलचाल। वे करेंगे क्या ? कोई खेतीका अभियान करना हो तो हलकी मूठ पकड़ लिया और फोटो खिचवा लिया, सड़क बनानेका अभियान करना हो तो मजदूरोंके बीचमें खड़े होकर फोटो खिंचवा लिया। तो ऐसे ही समझ लीजिए कि जहाँ बातही बात है, बस वही ज्ञान है, पर जिसका आचरण कुछ नहीं है तो ज्ञानहीन आचरण आचरणहीन ज्ञान ये निष्फल हैं। कोई महापुरुष इतना भी करे तो भी वह आचरणमें सामिल है, इस घटनामें, लेकिन किसीके मनमें यह भावना ही नहीं है और केवल एक दिखावाकी बात है, दिलकी लगन नहीं है, ऐसा मनुष्य तो हल पकड़ने मात्रके काबिल नहीं, वह तो दो चार बीघा हल चलाये, इसका पात्र है। और, वह केवल बनावट करे तो प्रभाव तो नहीं पड़ता जनतापर एक नैसर्गिक, इसीसे तो वह सफल नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान और श्रद्धान इनमें से केवल कोई हो, एक न हो तो उससे भी सिद्धि नहीं है, किन्तु जो केवलज्ञानसे अथवा श्रद्धासे अथवा आचरणसे मुक्ति माने तो वह मिथ्यावाद है। ध्यानके इस प्रकरणमें कुछ मिथ्यावादोंका इसलिए वर्णन किया गया है कि जब तक ज्ञान विशुद्ध नहीं होता तब तक भीतरकी उलझन खतम नहीं होती। कोई पुरुष कुछ भी जानकर मानता रहे कि मैं सही जानता हूँ, कोई पुरुष तो ऐसे हठग्राही होते कि समझते हुए भी कि गलत मार्ग है, गलत

सिद्धान्त है, फिर भी इज्जत रखनेके लिए या अन्य अनेक कारणोंसे उसका पोषण करते हैं, वे तो ध्यानसिद्धिके पात्र हैं ही नहीं, किन्तु जो जानबूझकर कुपथ पर नहीं हैं, खोटा ज्ञान जानबूझकर नहीं कर रहे हैं, अपनी जानमें वे सही जानते हैं, इतनेपर भी चूँकि ज्ञान वह सही नहीं है, यथार्थ नहीं है तो भीतरकी उलझन नहीं जाती, और उत्तम ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। इस कारण मिथ्यावादोंका कष्ट और समझा गया।

कारकादिक्रमो लोके व्यवहारश्च जायते।
न पक्षेऽन्विष्यमाणोऽपि सर्वथैकान्तवादिनाम् ॥३१३॥

एकान्त पक्षमें कारकादिक्रम एव व्यवहारकी भी प्रसिद्धि—सर्वथा एकान्तवादियोंके सिद्धान्तमें कर्ता कर्म करण आदिकका क्रम नहीं बन सकता है और तब फिर लोकमें व्यवहार भी नहीं बन सकता है। इसको यों समझ लीजिए कि जैसे कोई जीवको सर्वथा अनित्य ही माने तो सर्वथा अनित्यका ही अर्थ यह है कि उसमें कोई अवस्था नहीं बनी क्योंकि सर्वथा बने तो सर्वथा अनित्य कहाँ रहा? वह तो मिटेगा। जहाँ कोई अवस्था ही नहीं बनती तो कर्ता कर्म करणका कोई मतलब ही नहीं। फिर यह सारा व्यवहार कैसा? कोई अनित्य ही माने, क्षण-क्षणमें नया-नया होता है, सर्वथा अनित्य माननेपर भी क्या किया इसने? और, किसे किया। और फल किसे मिला? मान लो करे भी तो किया किसीने, कर्म बाँधा किसीने, फल भोगा किसीने। क्योंकि क्षण-क्षणमें नये नये जीव बन रहे हैं। एक ही एक शरीरको मैं आत्मा नहीं हूं ऐसा जिसका सिद्धान्त है, दिनभरमें लाखों करोड़ों भी नहीं, अरबों खरबों भी नहीं, अनगिनते नये-नये जीव बन जाते हैं, तो किया किसीने, फल पाया किसीने, भोगा किसीने। यह सब अव्यवस्था बन जायगी। तो सर्वथा एकान्तवादमें कर्ता कर्म आदिकका व्यवहार नहीं बन सकता है, और है यह सब। तो पदार्थ किसी एकान्तरूप नहीं है, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, ऐसा माननेसे अपने आपमें भी यह चेतना जगती है कि मैं सदा रहने वाला हूं, स्वच्छन्द न होना चाहिए, क्योंकि इसमें उत्पादव्यय चलता रहता है। मैं सदा रहकर भी नई-नई अवस्थावोंमें जाया करता हू, स्वच्छन्द हूं तो खोटी अवस्थाएँ भोगनी पड़ेंगी। तब बंध और मोक्षकी व्यवस्था स्याद्वादसे ही बन सकती है सर्वथा एकान्तवादमें नहीं।

इदं फलमिदं क्रिया करणमेतदेषः क्रमो
व्ययोऽयमनुषङ्गज फलमिदं दशेयं मम।

इदं सुहृदयं द्विषन्नियतदेशकालाविमा—
विति प्रतिवितर्कयन्प्रयतते बुधो नेतरः ॥३१४॥

विवेकियोंका ध्यानके विषयमें फल, क्रिया, करण, देश, काल आदिका निर्णय—जो विद्वान हैं वे ऐसे विचार करते हुए यत्न करते रहते हैं कि यह तो क्रिया है, यह करण है, यह इसका फल है और यह इसका क्रम है, इसमें यह व्यय है, यह इसमें फल उत्पन्न हुआ, यह मित्र है, यह द्वेषी है, यह कार्यके योग्य देश है, यह क्रियाके योग्य काल है, यह सब विचार अनेकान्त की ही तो छाया है। जो सर्वथा एकान्त हठी हैं वे इन सब बातोंका विचार नहीं करते। जैसे व्यवहारमें जो हठकी प्रकृतिके हैं वे कुछ भी योग्य अयोग्य हित अहितका विचार नहीं करते। जो दिमागमें भर गया बस वही एक धुन है। ऐसे ही जो सिद्धान्तके क्षेत्रमें हठवादी हैं, जिस किसी भी एक पक्षका हठ किया बस उसकी धुनमें रहते हैं, दूसरेकी बातका आदर भी नहीं करते। कहनेमें और करनेमें बहुत अन्तर है। करना कुछ नहीं, भीतर यथार्थज्ञान करना मानना यही करना है। इसमें भी अन्तर रह जाता है। अपने-अपने चित्तसे ही पूछ लेना चाहिए कि हम दूसरे मनुष्योंके ज्ञानका, उनकी बुद्धिका, उनके स्वभावका हम कितना आदर करते हैं, अन्तरमें हम कुछ उनका भी महत्त्व जानते हैं, उनका भी कुछ सत्त्व समझते हैं, वे भी ज्ञानमय हैं, ज्ञानवान हैं ऐसा समझते हैं, ऐसा तक लीजिए। जिसके यह बुद्धि जगी है दूसरोंके प्रति भी कि ये भी ज्ञानरूप हैं, ज्ञानमय हैं, महान हैं, जिसके ऐसी बात जगती है वह ही तो सत कहलाता है चाहे गृहस्थ हों अथवा यती। अन्यथा ऐसे लोग मिलेंगे कि कुछ ज्ञान पा जानेपर उनके मनमें यह बात समाई रहती है कि दुनियामें अकल तो केवल दो ही हैं। सो १॥ अकल तो हमें मिली है और आधी है सारी दुनियामें। ऐसा भाव प्रायः रहता है। दूसरे मनुष्योंके अथवा दूसरे जीवोंके स्वरूपकी ओर आकर्षण हो भीतरसे कि ये सब ज्ञानस्वरूप हैं, सबमें प्रतिभा है, बुद्धि है, ज्ञानका ही इनके भी परिणमन है, येभी समझदार हैं, विवेकी है ऐसी बात जगना और उनका कहना इस कोशिशके साथ सुनना कि इन्होंने दृष्टि क्या बनाया है और किस दृष्टिमें रहकर यह सब इसका कथन चल रहा है, ऐसे दूसरोंके रूपसे बनकर बात सुनना यह है आदरकी बात। और, अपनी ही कहना, दूसरेकी बात न सुनना, बीच-बीचमें काट छांटकी बात बोलते रहना, ऐसा हाफड़ हुपड़ जो प्रयत्न है, क्रिया है वह तो दूसरोंके आदरकी सूचक नहीं है। तो एकान्तवादमें हठवादमें न स्वहित है, न परहित है, वहाँ ध्यानकी सिद्धि भी नहीं है, जैसे आपको किसी बड़े ऊँचे कामसे लगन है

तो क्या कभी आप मामूली बातमें हठ किया करते हैं ? कभी नहीं करते। जैसे एक बड़े कामके लिए आपकी धुन बनी है उस प्रसगमें आप छोटी मोटी बातोंमें उलझते नहीं है ऐसे ही जिनको आत्महितका महान कार्य पड़ा है वे पुरुष भी छोटी मोटी बातोंमें उलझते नहीं हैं, विवाद नहीं करते, हठवाद नहीं करते। प्रथम तो अनेकान्तमे ऐसा बल है कि अनेककी बात को दृष्टि और व्यवस्थासे युक्त बता दे फिर विवाद काहेका। कोई कदाचित् बिल्कुल ही विपरीत चलता हो उसके प्रति भी सम्यग्दृष्टि और ज्ञानीकी समता रहती है। एकान्तवादमें फल क्रम कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

यस्य प्रज्ञा स्फुरत्युच्चैरनेकान्ते च्युतभ्रमा।
ध्यानसिद्धिर्विनिश्चेया तस्य साध्वी महात्मन॥२१५॥

अनेकान्तमें भ्रमहीन प्रज्ञ महात्माओंके ध्यानकी सिद्धि—जिस पुरुषकी बुद्धि एक अनेकान्तमें स्फुरायमान हुई है, यथार्थस्वरूपको जाननेका ही जिसके परिणमन और यत्न रहता है उस ही महात्माको उत्तम ध्यानकी सिद्धि हो सकती है। जब एकान्त कोई वस्तु ही नहीं तब ध्यानकी सिद्धि कैसे हो ? कितने पद हैं ज्ञान और ध्यानके ? प्रथम तो जीव जिसका होनहार भला है स्थूलरूपसे कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय रखता है। प्रभुभक्ति करना, शास्त्र सुनना, गुरुसेवा करना, घर धन परिजन सबसे अपने को जुदा समझना, इससे और आगे बढ़कर उसका भेदविज्ञान चलता है, वस्तुके स्वरूपका अभ्यास करता है और निर्णय रखता है कि मैं देहसे न्यारा हू, और फिर इस अपने आपके बारेमें अनेकान्तसे स्याद्वादसे अनेक पर्यायोंरूप अपना श्रद्धान बनाता है, अनन्तशक्ति वाला मैं हू, अनन्त पर्यायों सहित हू और कालकी अपेक्षा अतीत और अनागत अनन्तानन्त पर्यायोंमय हू, फिर आगे जब बढ़ता है तो उन सब गुणोंसे, उन सब परिणमनोंसे एक स्वरूपके आधारमें उन्हें गूँथता है। ये सब अनन्तगुण एक चैतन्यस्वभावमात्र हैं। ये सब विभिन्न पर्यायें एक परिणमनमात्र हैं, फिर इसके पश्चात् गुण और पर्यायोंका भी इसमें भेद न करके एकमात्र अभावदृष्टिमें आता है, तब देखिये क्या प्रक्रिया हुई ? अनेकान्तके द्वारा अपना उत्थान कर करके आखिर अन्तमें ऐसे अनेकान्तमें पहुचा जहाँ विकल्प ही नहीं, अभेद है, तब अनेकान्तके दो अर्थ बना लीजिए—अनेक धर्म वाले। अनेक हैं अन्त मायने धर्म जिसमें उसे कहते हैं अनेकान्त। और, दूसरा ऊँचा अर्थ जहाँ फल मिला है उसका अर्थ लगा लीजिए, तो अनेकान्तके तीन हिस्सा करें—अन् एक और अन्त, न एकः इति अनेकः, एक न हो उसे कहते हैं अनेक। जहाँ एक भी धर्म नहीं रहा उसे कहते हैं

अनेकान्त। पहिले इसे अनेक धर्म देखें—पदार्थ नित्य हैं, अनित्य हैं, गुण हैं, पर्याय हैं। और जब स्वहितका अभ्यास इसने खूब दृढ़तासे किया और निर्विकल्प सिद्धिमें जब पहुचा तो उसके उपयोगमें नित्य अनित्यकी तो बात कौन करे, गुणपर्याय भी विकल्पमें नहीं हैं। जब एक भी धर्म जहाँ नहीं रहा ऐसे ध्यानपर इसकी सिद्धि उस अनेक धर्मात्मा ज्ञानके प्रयोगसे हो पायी। तो जिसकी प्रज्ञा अनेकान्तमें स्फुरित हुई है उसी महात्माको ध्यानकी सिद्धि होती है। यहाँ तक मिथ्यादृष्टि जीवोंके ध्यानकी योग्यता नहीं है यह वर्णन किया है। जो जीव प्रकट मिथ्यादृष्टि हैं, जिनशासनसे बहिर्भूत हैं उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं है, ऐसे वर्णनके बाद अब यह वर्णन चलेगा कि जो जिन मतमें मुनि हैं, अपना आचरण, अपना भेष, अपनी क्रिया सब जैनशासनमें बतायी हुई आज्ञाके अनुसार करते हैं फिर भी अन्तरङ्गमें जिन आज्ञाके प्रतिकूल हैं, कोई तो बाहर भी प्रतिकूल हैं और कोई अन्तरङ्गमें प्रतिकूल हैं, उन्हें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है अब यह प्रसग चलेगा।

ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते नैते मिथ्यादृशः परम्।
मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशयाः ॥३१६॥

जिनाज्ञापराङ्मुख चलितचित्त साधुवोंके भी ध्यानका अनधिकार—इस ध्यानके प्रकरणमें ध्याता पुरुष कैसा होता है, इस सम्बन्धमें वर्णन चल रहा है। कैसा ध्याता प्रशसनीय है। पहिले ध्याताके लक्षण बताये—जो मुमुक्षु हो, ससारसे विरक्त हो, शान्तचित्त हो, जिसका मन स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, धीरवीर हो, सयमी हो वही ध्याता प्रशसनीय है। इसके अनन्तर बताया कि गेहाश्रममें ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती है उत्तमरूपसे, इस कारण यह गेहाश्रम निन्द्य है, हेय है। इससे यह शिक्षा मिली है कि जो गृहस्थजन हैं वे घरमें रहते हुए भी यह निर्णय रखें कि यह गृहवास त्यागनेके योग्य ही है, इसमें आत्माका श्रेय नहीं है, ऐसी विचारधारा होनेपर गेहाश्रममें रहना भी योग्यतासे रहेगा, उत्कृष्ट लक्ष्यकी दृष्टिसे भी हममे विशुद्धि बढ़ेगी। साधुजन जो गृहको त्याग चुके हैं उन्हें यह शिक्षा मिली है कि जिस गृहको त्यागा है उसका फिरसे सकल्प न करना, यह गेहाश्रम निन्द्य है। इसके पश्चात् जो ऐसे दार्शनिक हैं, जिनका अभिप्राय मिथ्या है उनसे भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अब यह वर्णन कर रहे हैं कि जो अपनेको जैन कहते हैं और जैनशास्त्रोंके अनुसार बाह्य क्रियायें भी करते हैं किन्तु परमार्थ जिन-आज्ञाके प्रतिकूल हैं उनको भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। सिद्धान्तमें केवलदृष्टियोंके ही ध्यानकी पात्रता

का निषेध नहीं किया किन्तु जो जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञासे प्रतिकूल हैं अर्थात् जिनका चित्त चलित है, जो जिनसाधु कहलाते हैं ऐसे जिन-आज्ञा प्रतिकूल साधुवोंके भी ध्यानका निषेध किया गया है अर्थात् उनके भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। अन्तरङ्गका काम अन्त प्रकाशके अनुसार ही होता है। बाहरसे क्या किया कर रहे हैं, शरीरकी, यद्यपि अन्तः भावोंके अनुसार प्रायः देहकी भी क्रिया चलती है लेकिन यह नियम नहीं है, और वह भी किसी प्रयोजनसे देहकी क्रिया व्यवहारधर्मरूप प्रवर्ताई जा सकती है। जो साधु बाह्यपरिग्रह भी छोड़ चुके हैं, आरम्भरहित भी हैं, कायक्लेश आदिक अनेक तपश्चरणोंमें लगे रहते हैं फिर भी एक तो अन्तरङ्गमें जिनेन्द्रभक्तिकी जो लक्ष्य करानेकी आज्ञा है उनके प्रतिकूल हैं और जो साधु बाह्यमें भी जिन आज्ञाके प्रतिकूल हैं बाहरी क्रियावोंमें भी, उनके भी ध्यानकी सिद्धि नहीं है। ध्यानका सम्बन्ध ज्ञानसे है। और, लगानार उस ज्ञानके बना रहनेका ही नाम ध्यान है ना। तो उस ध्यानमें सहायता संयमकी है। तो ज्ञान और संयम इन दोनोंके मेलमें ध्यानकी सिद्धि होती है।

योग्यता न यतित्वेऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम्।
अन्विष्य लिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्ध निगद्यते ॥३१७॥

ध्यानके अयोग्य यतियोंके चिह्नके वर्णनका आरम्भ—यती होनेपर भी जिनके ध्यान करनेकी क्षणमात्र भी योग्यता नहीं है उनकी पहिचान जैसे कि शास्त्रोंमे कही गई है उसका वर्णन किया जायगा। यह ज्ञानभ्रष्ट, श्रद्धाभ्रष्ट अथवा ध्यानभ्रष्ट साधुवोंके चिन्होंका वर्णन करनेका संकल्प अथवा अधिकार इस श्लोकमें है। इसमें सूचना दी है कि अब हम आगे न चिन्हों का वर्णन करेंगे कि यती हैं, साधु हैं, बाह्यपरिग्रहका त्याग कर चुके हैं, फिर भी क्या बात अन्तरङ्गमें ऐसे मिथ्या आशयकी रह जाती है जिससे उन्हें ध्यानकी पात्रता नहीं मिलती।

यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तन्न चेतसि।
यतेर्यस्य न किं ध्यानपदवीमधिरोहति ॥३१८॥

मायाचारी प्राणीकी ध्यानसिद्धिकी अपात्रता—उससे प्रथम ध्यानमें विघ्न करने वाले भावको मायाचार बताया है। मायाचार ध्यानमें विघ्न करने वाला है। जिन यतियोंके शरीरकी क्रियायें तो और तरह की हैं। जो शरीर की क्रियाएँ हैं वे वचन में नहीं हैं, वचनमे और कुछ है, और जो वचनमे है वह चित्तमें नहीं है ऐसा मायाचार रखने वाले यती क्या ध्यानपदवीको पा सकते हैं? धर्मसाधन

में सबसे बड़ा भारी विघ्न है भीतरमें तो मायाचार है—अनुभव करके देख लो। गृहस्थ हो अथवा यती हो—धर्मसाधन करनेमें जो मायाचार रखते हैं उन्हें ज्ञानध्यान धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। मन ही नहीं है धर्मसाधनमें। शरीरकी चेष्टा करें धर्मात्मापनकी ओर मनमें उस धर्मसाधनकी लगन नहीं है। अपने आपका सहज स्वरूप क्या है, इसके अनुभवके बिना अन्तस्तत्त्वमें लगना कैसे हो सकता है ? ध्यानकी सिद्धि मोक्षमार्गकी सिद्धि सबका प्रारम्भ सम्यक्त्वसे है। मिथ्या आशय जब तक बना हुआ है तब तक न धर्मसाधन है, न ध्यानसिद्धि है, वह सब एक सांसारिक कृत्य है। जैसे लोग लोकमें अपना बड़प्पन रखनेके लिए धन संचय करते हैं, लोग समझें कि यह भी खांसे आदमी हैं, केवल पेट पालनेके लिए धन संचय किया जाता हो ऐसी बात समझमें नहीं आती। लोग तो आरामके साधन बढ़ानेके लिए अनावश्यक खर्चे बढ़ा लेते हैं। यह भी तो लोकमें यश लूटनेके लिए किया जाता है। बड़े बड़े आरम्भ किये जाते हैं एक लोकमें यश लूटनेके लिए। ऐसे ही समझ लीजिए कि जिनको अपने आत्मस्वभाव की पहिचान नहीं है, आत्मकल्याणकी भावना नहीं है उनके धर्मके सम्बंधमें में भी किए जाने वाले काम लोकमें अपना बड़प्पन जतानेके लिए हो सकते हैं, पूजन करते हैं, बैठते हैं तो अकेलेमें किसी प्रकार कर रहे हों और जहाँ दो चार आदमी दिख जायें, समूह जुड़ जाय वहाँ और तरहकी प्रवृत्ति करने लगे। यह धैर्यका भंग किसने करा दिया ? वह समता न रही, अपने धुनके अनुकूल समान कार्य भी न रहा, इससे हुई विषमता, इसके कारण हुआ मायाचार। कोई अपनी लौकिक सिद्धिके लिए, किसी धन लाभके लिए, किसी सामाजिक धार्मिक कार्यको करना यह तो बहुत बड़ा पापकार्य हुआ, कि दिखावेमें लोगोंको अपनेको उदार धर्मात्मा बताया और भीतर में मायाचार ऐसा छिपा है, लोभका रंग ऐसा चढ़ा है, कोई जान न जाय इस तरहकी वृत्ति करें वह तो बहुत अधिक पाप है। ऐसे मिथ्या आशय वाले जीवोंके ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। साधुजनोंमें भी कुछ अदाज करिये ऐसी हो बातें किन्हीं साधुवोंके हो सकती हैं। जिनके हो सकती हैं उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती।

सरल सहज अन्तःस्वभावके अनुरूप अपनेको बनानेमें ही शान्तिका लाभ—
जीव जीव तो सब एक समान हैं। जो कानून बंधका, मोक्षका, ध्यानका, शान्तिका है वह सब जीवोंपर एकसा लागू होता है। कहीं ऐसा नहीं है कि गृहत्याग करनेपर अथवा दिगम्बर भेष धारण करनेपर मोक्ष जानेका दूसरा उपाय हो जाता हो। मोक्ष तो एक ही प्रकारसे मिलेगा, चाहे गृहस्थ

हो चाहे साधु। भले ही आंशिक विशेष अंशमें कुछ फर्क रहे किन्तु शैलीमें फर्क नहीं होता। जैसे दुःख पानेकी शैली एक है, किसी परपदार्थकी दृष्टि करना, परके प्रतिके आकर्षण होना, ये सब दुःखके कारण हैं, चाहे गरीब हो, चाहे धनी, चाहे ज्ञानी, चाहे मूर्ख सबके दुःखी होनेकी शैली एक है, भले ही दुःखी होनेके विषय नाना हो जायें, ऐसे ही आनन्द पानेकी शैली, ससारमें रुलनेकी शैली सबमें एक हैं। ससारमें रुलनेकी शैली है मोह राग-द्वेष, परकी ओरका लगाव किये जाओ, यह संसारमें जन्म मरण करानेकी शैली है। ऐसा भाव किसी नग्न दिगम्बरके हो तो भी संसारमें रुलनेका काम करता है, किसी गृहस्थके हो तो वह भी संसारमें रुलनेका ही करता है। तो मनमें कुछ हो, वचनमें कुछ हो और शरीरसे चेष्टा कुछ करे, ऐसा मायाचार जिन यतियोंमें पाया जाय उन्हें भी ध्यानकी पदवी प्राप्त होती। एक कथानकमें बताया है कि किसी साधुने चातुर्मास किया, वह साधु तो चातुर्मास समाप्त करके चला गया। दूसरा साधु आया। लोगोने उसकी प्रशंसा कर दी, वाह—इन महाराजने तो ४ महीनेका अनशन किया है। उन्होंने "हाँ" "ना" कुछ नहीं कहा, मन ही मन खुश हुए। सोचा कि ठीक है मुफ्तमें प्रशंसा हो रही है। तो इस मायाचारसे बताते हैं कि उस साधु को दुर्गति प्राप्त हुई। तो भीतरमें जो एक मिथ्या आशय है, मायाचार है, ससारका लगाव है, बड़प्पनका आकर्षण है ये सब बातें चित्तमें हों तो अन्तः शान्ति और ध्यान नहीं बन सकता है। इस कारण ऐसा विरक्त होना चाहिए, इतना निर्णय होना चाहिए कि जगतके ये सभी जीव जैसे हम रुलने वाले हैं। हमें किसीमें क्या बड़प्पन छांटना। क्या कोई हमारा प्रभु है। हमीं अपना सुधार बिगाड़ करनेमें समर्थ हैं, अन्य कोई नहीं।

मायाचाररहित स्वभावानुरूप आचरण करके दुर्लभ नररत्नका सदुपयोग करनेकी प्रेरणा—भैया! यह जीवन तो व्यतीत हो ही रहा है। ऐसे प्रमाद में ही यह जीवन व्यतीत हो गया तो ऐसा दुर्लभ मानव देह पाना बड़ा कठिन है। यदि इस उत्कृष्ट अवसरको खो दिया तो फिर मरकर न जाने कहाँके कहाँ उत्पन्न हो जायेंगे। असज्ञी हो गये, विकलत्रय हो गए, स्थावर हो गए, तो अब क्या ठिकाना रहा। इन सब बातोंका निर्णय करके इतना साहस रखना चाहिए कि मुझे आत्मकल्याणके लिए अपने आपमें सही दृष्टि बनाना है, अपने आपमें ही गुप्त रहकर जो करतूत करना है उतना ही मेरेसे रिश्ता है, अन्य बाहरी बातोंसे कुछ भी लाभ नहीं है। तो जो मायाचार रखते हैं ऐसे साधुजनोंके भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। देखिये धर्मसाधनाके अवसरके लिए सर्वप्रथम मायाचारसे दूर रहें।

मायाचारसे लाभ कुछ नहीं बल्कि हानियां ही सारी हैं। अपने जीवनको यदि सरल बना लें, जो बात चित्तमें है वही बखानें, वही करें तो इसमें कौनसी विपदा आती है? कदाचित विपदा भी आये फिर भी अपनी सरलता और सच्चाईको न त्यागें तो यह भी एक धर्मपालन है। तो धर्म पालनके लिए सर्वप्रथम हमारी दृष्टि इस बात पर होना चाहिए कि हम मायाचारका व्यवहार न रखें। रोज रोज नये-नये मायाचार करते रहनेके कारण वे विषय इतने ज्यादा हो गए हैं कि किस-किस वातको छुटायें। अनेक प्रकारकी उलझनें इस मायाचारसे बन जाती हैं। सरल पुरुषको कभी भी कोई उलझन नहीं होती है। तुम्हें तो चाहिए शान्ति ही ना। तो शान्ति पानेके लिए धर्मपालना होगा। धर्म जितना कर पाते है उतना ही सही। अधिक ज्ञान नहीं है तो न सही। जितना ज्ञान है उतनेको ही अच्छे उपयोगमें लगायें। धर्मपालनके लिए तो सर्वप्रथम इस मायाचारसे अपनेको रोकें। व्यवहारमें भी किसी प्रकारका मायाचार न रखे। जब मायाचार अपनेमें न रहे तो समझिये कि अब हम धर्मपालन कर सकते हैं। ये सब बातें अपनेको अपने आप ही करनी पड़ेंगी। कोई दूसरा करने न आ जायगा। जो करेगा वही आनन्द पायगा। मायाचाररहित अपनी प्रवृत्ति हो तो उससे ध्यानकी पात्रता रह सकती है।

सङ्गेनापि महत्त्वं ये मन्यन्ते स्वस्य लाघवम्।
परेषां सङ्गवैकल्यात्ते स्वबुद्ध्यैव वञ्चिताः ॥३१९॥

परिग्रहसे अपना महत्त्व मानने वाले बुद्धिहीन साधुभेषियोंकी ध्यानकी अपात्रता—जो साधु होकर भी साथमें परिग्रह रखते हैं और उस परिग्रहसे अपना महत्त्व मानते हैं तथा अन्य कोई जो साधु परिग्रह नहीं रखता, स्वतन्त्र एकाकी जहाँ चाहे स्वच्छन्द विहार करता है, सात्त्विकतासे रहता है उसको जो मुनि छोटा समझें वे अपनी बुद्धिसे ठगे हुए हैं, वे ध्यानके पात्र नहीं हो सकते। यह ऐब भी कितना कठिन है। और, जो बात दिखा रहे हैं श्लोकमें वह कल्पित नहीं है किन्तु यह साधुवोंपर गुजरती है। जो साधु बहुत बड़ा आडम्बर अपने साथमें रखते हैं, उससे ही अपना महत्त्व मानते हैं, लोग समझें कि इनके साथ दो चार कार हैं, जहाँ जाते हैं वहाँ ही इनके लिए सिंहासन तैयार किया जाता है, जमीनपर बैठनेका काम ही नहीं है, इस सब आडम्बरसे जो साधु अपना महत्त्व माने और किसी आडम्बररहित साधुको लघु समझे तो वह साधु ध्यानका पात्र नहीं है। प्रथम तो बात यह है कि उस साधुको उस आडम्बरकी बड़ी चिन्ता रखनी पड़ती है। उस परिग्रहकी चिन्ताके कारण ध्यान बन कैसे सकता है? एक

तो यही महा अपराध है। जिन चीजोंका त्याग किया उनमे ही लगाव बने तो यह तो एक बहुत बड़ा दोष है। दूसरे— साथमें जो आडम्बर है उसको देखकर अपना महत्त्व आकना यह भी एक बहुत बड़ा दोष है तीसरा यह दोष है कि किसी आडम्बररहित साधुको देखकर, एकाकी साधारणवृत्ति से रहने वाले साधुको देखकर उसे लघु माने। तो ऐसे अपराध करने वाले साधुको ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। मुनिका महत्त्व, निर्ग्रन्थताका महत्त्व आडम्बरसे नहीं है, इस बातको जब सही न समझने वाले वे स्वयं हैं तभी तो वे आडम्बरसे अपना महत्त्व समझते हैं। साथ ही अनेक भक्त भी वैसे ही हो जाते हैं जो कि उनके बहुत बडे आडम्बरको देखकर उनकी महत्ता आकते हैं। उनका बहुत बड़ा संग है, चार कार हैं सगमें। जहाँ जाते हैं वहाँ इनके लिए सिंहासन तैयार किया जाता है, इन सब बातोंको देखकर बहुत से भक्त लोग भी उनकी महत्ता आंकते हैं। तो आडम्बरसे अपनी महत्ता जो आंके उसे ध्यानकी सि.द्ध नहीं हो सकती है।

सत्संयमधुरां धृत्वा तुच्छशीलैर्मदोद्धतैः।
त्यक्ता यै. सा च्युतस्थैर्यैर्ध्यातुमीश क्व तन्मनः ॥३२०॥

सयमच्युत अधीर साधुवोंकी ध्यानकी अनधिकारिता—अब तक मायाचार, सग इन दो दोषोंको बताया है कि मायाचारमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं है और परिग्रहसे अपनी महत्ता माने ऐसे भी साधुवोंके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है, अब यह बतला रहे हैं कि जिन्होंने संयम धारण किया था किन्तु मदमें उद्धत होकर तुच्छ प्रकृति बनाकर सयमका परित्याग कर दिया है, जिनका धैर्य छूट गया है ऐसा साधुयोंका भी मन क्या ध्यान करनेमें समर्थ है? इस प्रकरणमें कितना स्पष्ट और सही विधिपूर्वक उन जैन साधुवोंका वर्णन किया जा रहा है जो बाह्यमे जैनव्रत ले करके अन्तरङ्गमें मिथ्या जानने वाले हैं इस कारण उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। किसी भावुकतामे या किसी समयमें सद्‌बुद्धिसे संयम धारण कर ले किन्तु वह प्रेरणा जब कम हो गई और विषयकषायोंकी प्रेरणा प्रबल होने लगी अथवा उस सत्संयमके धारण करनेके कारण लोगोंके द्वारा, भक्तोंके द्वारा जो महत्त्व मिला उस मदसे उद्धत होकर जिन साधुवोंने सत्सयमका त्याग कर दिया, अब उनके वह धैर्य नहीं रहा, वह अन्तर्बल नहीं रहा, मन चचल होने लगा, अन्तः लगावसे भी भ्रष्ट हो गए तो वे साधु ध्यानके पात्र नहीं हैं। इस प्रकार उन साधुवोंका वर्णन चल रहा है जो बाह्यमें जिनव्रत करके भी ध्यानके पात्र नहीं हो सकते। प्रथम तो बताया मायाचार, दूसरा बताया परिग्रहमे महत्त्व मानना और तीसरा बताया सयमसे भ्रष्ट साधु।

इन तीनके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। इस प्रकरणसे गृहस्थजन भी यह शिक्षा लें कि हम भी मायाचारका त्याग करें, परिग्रहसे वैराग्य रखें और यथाशक्ति संयम धारण करें और उनके निभानेकी हम अपनी प्रवृत्ति करें।

कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः ।
बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता ॥३२१॥

पूजाभिमानी लोकयात्रानुरागी साधुवोंके ध्यानयोग्यताका अभाव—इस प्रसंगमें यह बताया जा रहा है कि जो जैन मतके भी साधु हैं किन्तु जिन-आज्ञाके प्रतिकूल हैं उनके भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। अभी तक बताया है, जो साधु मायाचारी है, जो परिग्रह और आडम्बरके रखनेसे अपना महत्त्व समझते हैं, जो संयम धारण करके संयमका भंग करते हैं ऐसे साधुवोंके ध्यानसिद्ध नहीं होता। अब इस श्लोकमें बतला रहे हैं कि जो मुनि कीर्ति प्रक्रिया पूजा अभिमानके वश हैं, आसक्त हैं, पीड़ित हैं, दुःखी हैं तथा जो लौकिक यात्रासे प्रसन्न होते हैं, जिन्होंने अपने ज्ञान-नेत्रको नष्ट कर दिया है ऐसे साधुवोंके ध्यानकी योग्यता नहीं है। कीर्ति प्रतिष्ठा, पूजा अभिमान ये तो प्रसिद्ध ही हैं, लोकयात्राका अर्थ है मेरे पास बहुत लोग आयें जायें, मुझे मानें। इस भावसे जो अनुरंजित हैं ऐसे साधुवोंके ध्यानकी योग्यता नहीं है। कोई लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें एकान्तमें रहनेमें मन नहीं लगता, खूब भीड़भाड़ हो, लोग खूब आये जायें, इस वातावरणसे अपनेको बड़ा प्रसन्न अनुभव करते हैं। ये सब बातें शास्त्रोंमें लिखी हैं तो केवल कल्पित ही नहीं हैं, घटित भी होती हैं। आज भी घटित हो रही हैं। जैसे परिग्रह आडम्बर बड़ी सवारियां, तखत, मेज, कुर्सी, सिंहासन, बड़ी-बड़ी चीजें रखकर चलते हैं, साथमें तीन चार लारियाँ चलती हैं ऐसी बातका अनुभव करके अपनेको महान माननेकी बात मनमें आती है। हम हैं समाजके बड़े साधु। देखो इतना बड़ा आडम्बर है, इतना बड़ा संघ है, तीन चार लारियां भी हैं, इतने लोग हैं, इतने अमुक हैं, परिग्रह रखनेके कारण अपना महत्त्व मानते हैं तो उन साधुवोंके ध्यानकी सिद्धि नहीं है। तो ऐसे जो कीर्ति पूजाके वश हैं, जो लोगोंके आने जानेसे अपना महत्त्व अनुभव करते हैं उन्हें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं है। साधु परमेष्ठी हैं और वे जिनेश्वरके लघुनन्दन अर्थात् छोटे भाई कहे जाते हैं। जैसे कभी यह होड़ मच जाय कि अमुक साधुके पास मंत्री भी आते, राष्ट्रपति भी आते, बड़े-बड़े मिनिष्टर भी आते, मेरे पास कोई नहीं आता, इन सारी बातोंसे साधुताका महत्त्व माप करनेकी बात जहाँ चित्तमें आने लगती है वहाँ ध्यानकी सिद्धि नहीं होती और इन अभिप्रायों

के कारण जिसने अपने ज्ञाननेत्र विलुप्त कर दिया है ऐसे साधुवोंके भी ध्यानकी योग्यता नहीं है।

अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं मिथ्यात्वविषमुद्धतम्।
निष्ठ्यूतं यैर्न निःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रमीयते ॥३२२॥

मिथ्यात्वग्रस्त साधुवोंकी तत्त्वज्ञानके अभावके कारण ध्यानकी नितान्त अपात्रता—जिन साधुवोंने अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए मिथ्यात्वरूपी विषका वमन न कर अपने मिथ्यात्वको नहीं तजा वे तत्त्वप्रमाणरूपसे नहीं जान सकते, यथार्थस्वरूप नहीं समझ सकते। मिथ्यात्वका वमन होने पर एक अद्भुत समता प्रकट होती है। मेरा तेरा, इसकी बात रह गयी, मेरी बात नहीं रही, ऐसी बातका भी बहुत कठिन परिग्रह हुआ करता है। धन वैभवका परिग्रह तो प्रसिद्ध है पर बातका भी परिग्रह हुआ करता है। और, जो हठ है, अपनायत है वह भी मिथ्यात्वको, भ्रमको, पर्यायबुद्धिको प्रकट करती है। मेरी क्या बात है। मेरा जो सहजस्वरूप है, मेरा जैसा परिचय हो सकता है वह तो इन सब बातोंको एक हेय बुद्धिसे देखता है। ये सब जगतकी रचनाएँ हैं, संकल्प विकल्प विभाव हैं, ये क्या मेरे हैं, और मेरा संकल्प, मेरा मतव्य, मेरी बात लोगोंमें रह गयी तो मैं रह गया। मैं ठीक हू यह बात केवल एक पर्यायबुद्धिमें होती है। एक जगह जब समयसारमें यह चर्चा चली कि मिथ्यादृष्टि जीव परपदार्थोंको आपारूप मानते हैं, कर्म मैं हू, देह मैं हूं, परपदार्थ मैं हूं, धर्मद्रव्य मैं हू, अधर्म मैं हू, आकाशद्रव्य मैं हू, तो वहाँ एक जिज्ञासा उठी कि ऐसा तो कोई नहीं मान रहे कि धर्मद्रव्य मैं हू, अधर्मद्रव्य मैं हू, आकाशद्रव्य मैं हूं। तो समाधान दिया कि धर्मादिक द्रव्योंके सम्बन्धमें चिन्तना और विकल्प जो उठते हैं उन चिन्तना और विकल्पोंमें आत्मबुद्धि हुई, उसको ही उपचारसे यों कहा गया कि यह धर्मद्रव्यको भी अपनाता है, आकाशद्रव्यको भी अपनाता है। इन अमूर्त पदार्थोंकी चर्चा करते-करते भी एक दूसरेसे मतव्य न मिलनेपर उस प्रसंग में जो बड़ी कहा सुनी हो जाती है, गालीगलौज तक भी हो जाता है वह अपनायत हुई कि नहीं हुई ? उन अमूर्त पदार्थोंको अपनाए नहीं तो उनके सम्बन्धमें जो विकल्प उठते हों उन विकल्पोंको भी अपनाना एक मिथ्यात्व का कार्य है। मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि इसका लेशमात्र भी हृदयमें रहे तो यथार्थ तत्त्वका ज्ञान और श्रद्धान वास्तविक नहीं हो पाता। तब ऐसी स्थितिमें ध्यानकी योग्यता कहाँसे हो ? ध्याता कौन प्रशसनीय है, किस ध्यानमें सिद्धि हो सकती है ? इस प्रकरणमें पहिले तो गेहवासियोंको ध्यानके अयोग्य बताया, फिर मिथ्यादर्शन, मिथ्यातप, मिथ्याआचरण करने

वालेको भी ध्यानके अयोग्य बताया। कुछ जैन मतके साधु भी ऐसे आशय वाले होते हैं कि उन्हें भी ध्यानके अयोग्य कहा जा रहा है।

दुःषमत्वादयं काल कार्यसिद्धेर्न साधकम्।
इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यान निषिध्यते ॥३२३॥

कालका बहाना करके अनेक साधुवों द्वारा ध्याननिषेधका प्रलाप—कोई कोई साधु ऐसा कहते हैं कि यह पञ्चम काल है, कलयुग है, दुःखमाका समय है, इस कालमें किसीके भी ध्यानकी योग्यता नहीं है, ऐसा कहकर अपने भी ध्यानका निषेध करते हैं और दूसरे भी कोई ध्यानके योग्य नहीं हैं इस प्रकार कहकर दूसरेका भी निषेध करते हैं, ऐसे आशय वालोंके ध्यानकी सिद्धि कहाँसे होगी ? जो पहिलेसे ही मान बैठे कि इस कालमें ध्यान नहीं होता तो उनके ध्यान होगा कहाँसे ? यद्यपि यह बात है कि ऐसा ऐसा उत्कृष्ट ध्यान न होगा जो एक शुक्लध्यानरूप है, जो मोक्षका साक्षात् बीजभूत है, लेकिन धर्मध्यानका तो निषेध अब भी नहीं है, अब भी धर्मध्यानके बलसे लौकान्तिक देव तक होनेकी योग्यता है। अब भी रत्नत्रय से शुद्ध होकर लौकांतिक देवपनेकी प्राप्ति की जा सकती है, पर आशय विशुद्ध हो। यहाँ भी सम्वेग, निर्वेग, आदिक सभी सद्भावनावोंमें सद्वृत्ति हो, तपश्चरण हो, संयम हो तो ऐसे अद्भुत पदोंकी प्राप्ति यह जीव कर सकता है।

संदिह्यते मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलालसा।
विप्रलब्धान्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति ॥३२४॥

संदिग्ध लालची कुसिद्धान्तविमुग्ध पुरुषोंकी ध्यानकी अपात्रता—जिनकी बुद्धि संदेहको प्राप्त हुई है, यथा तथा एकान्तवादके शास्त्रोंसे जिनकी बुद्धि ठगी गई है, जो काम और अर्थमें लुब्ध होकर वस्तुतत्त्वके चिन्तनमें संदेहरूप भाव बनाते हैं वे ध्यान करनेके पात्र कैसे हो सकते हैं ? लोकविजय एक बहुत बड़ा आन्तरिक तपश्चरण है। लोकके किसी भी समागममें अटक न करना, सचेतन अचेतन इन सब समागमोंमें किसीमें आकर्षित न होना अथवा मोहबुद्धि न होना यह एक बहुत बड़ा आन्तरिक तपश्चरण है। यदि कोई शिवमार्गमें बहुत बड़ा रोड़ा है कोई तो एक यही विघ्न है लोकयात्रासे सन्तोष करना। यह विघ्न इतना विकटरूप रख लेता कि मोहादिक सभी ऐब फिर प्रकट होने लगते हैं। जिन्हें केवल आत्मकल्याण की ही धुन है, समस्त जगतसे मैं अपरिचित हूं, निराला हूं, इस बातका जिसके विशद अवगम है वह ही पुरुष लोकविजय कर सकता है, उपेक्षा करनेका नाम है विजय। जैसे कहा जाय कि इन्द्रियविजय करो तो इन्द्रिय

विजयका यह अर्थ नहीं है कि नाक, आँख, कान, वगैरा काट डालो, इन्द्रिय विजयका अर्थ है कि इन द्रव्येन्द्रियोंसे और विषयभूत पदार्थोंसे और इन इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ बोध होता है, विकल्प होते हैं उन विकल्पोंसे उपेक्षा करना सो इन्द्रियविजय है। इन इन्द्रियोंसे उपेक्षा करके आखिर कहीं तो लीन होना पडेगा ही, तो मैं ज्ञानमात्र हू, इन सबसे परे मैं केवल ज्ञानरूप हूं ऐसा अपनेको ज्ञानस्वरूप संचेतन करना इससे इन इन्द्रियके विषयोंके विकल्पोंकी उपेक्षा हो जाती है। तो जब तक परवस्तुवोंसे उपेक्षा न जगे, अपने आपके कल्याणकी विशिष्ट धुन न बने तब तक यह अपने आत्मामें मोक्षमार्गकी बानको निभा नहीं सकता। इतना बड़ा साहस हो कि मैं लोक के लिए कुछ नहीं हू, मुझे यहां कोई नहीं जानते हैं, न मैं किसीके द्वारा परिचित हो रहा हू, और कोई मुझे जान जाय तो वह स्वयं ज्ञायकस्वरूप परिचय पा लेनेसे अविशेष बन जायगा। विशेषता, व्यक्तिया, विकल्प उनके चित्तमें नहीं रह सकते। तो उनको अपना बड़प्पन जताना कैसे बन सकता है और जो लोग मुझे जानते नहीं हैं उनको अपना बड़प्पन जताने से फायदा क्या? यों किसीको भी अपना बड़प्पन जतानेसे कुछ शोभा नहीं है। ऐसा निर्णय करके ज्ञानी सत पुरुष, मोक्षमार्गी जन अपने आपको अविशेष रखा करते हैं। लोकमें तो विशेषका महत्त्व है किन्तु अध्यात्मक्षेत्र में सामान्यका महत्त्व है। जो विशेषताओंसे दूर रहकर अपने स्वभाव सामान्यरूप उपयोग बनायें, तो वहा ध्यानकी सिद्धि होती है। जो लोग अन्य सिद्धान्तोंसे ठगे गए हैं अर्थात् वस्तुका जैसा स्वरूप है उस स्वरूपसे विपरीत मान्यताओंको सुनकर उस ही विपरीत धारणा वाले बनते हैं उनके भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है।

निसर्गचपल चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम्।
स्याद्यस्य स कथं ध्यानपरीक्षाया क्षमो भवेत् ॥३२५॥

नास्तिक्यभावसे प्रतारित पुरुषोंकी ध्यानाक्षमता—एक तो यह मन स्वभावसे ही चंचल है और तिसपर कोई नास्तिक लोग जो धर्मको जीवको व्रत तपश्चरण आदिकको, मोक्षको न मानते हों, उनके वचनोंको ठगाया गया हो उस मनकी चंचलताका ठिकाना ही क्या? ऐसे मन वाले पुरुष ध्यानकी सिद्धिके पात्र भी कहां हैं। नास्तिकताके वचन तत्काल बड़े मधुर लगते हैं, एक तो जीवका विषयोंसे वासित चित्तस्वभावसे ही चल रहा है अनादिसे जीवका। यह तो क्या, विषयोंमें उनका उपयोग वासित रहा, और फिर कोई ऐसी बात सुनाये—तपश्चरणके कष्टसे क्या लाभ है? सांसारिक आराम छोड़कर सयम आदिक धारण करना, यह तो एक दिमाग

का फितूरसा है आदिक बातें घन,ये और विषयोंका बड़े साहित्यिक ढंगसे वर्णन करें, रागभरी कथायें सुनायें, ऐसी बातोंसे जिनका मन ठगाया गया हो उनके तो चंचलता अत्यन्त अधिक है, उनकी भी ध्यानमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। बहुत सीधा सा एक छंद है, जो कि नास्तिकता से भरा हुआ है— तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना, नासौ मुनिर्यस्य वच न प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्व निहितं गुहायां महाजनो येन गत स पन्था। तर्क युक्तियां सब अप्रतिष्ठित है। सचको झूठ बना दें ऐसी भी युक्तियां हैं, झूठको सच बना दें ऐसी भी युक्तियाँ हैं। तो उन युक्तियोंके द्वारा कोई धर्मकी बात खोज निकले तो निकल ही नहीं सकती। युक्तियोंसे क्या? यह तो चतुराई है। तो युक्तियोंसे भी धर्ममें सिद्धि नहीं है। आगमोंकी बात—सबके शास्त्र न्यारे-न्यारे हैं, किसको सही कहें, किसको झूठ कहें, सब विरुद्ध बातें चलती हैं। ऐसा कोई मनुष्य साधुसंत नहीं है जिसका वचन प्रमाण कर लें। आज जिसकी बात सुनते हैं उसकी ही बात बड़ी अच्छी लगती है, कल किसी अन्यकी बात सुनेंगे तो वह भी ठीक लगेगी, तो ऐसा कोई साधु नहीं, मुनि नहीं जिसका वचन प्रमाणीक हो। और फिर धर्मकी बात यों समझलो गुफामें रखी है, वह केवल कहनेकी है। जैसे लोग कहते हैं कि हमने धर्मको तो ताखमें रख दिया। यह नास्तिकवादकी बात कह रहे हैं। सुननेमें कितने सुन्दर शब्द लगते हैं और यह बात बहुत जल्दी चित्तमें बैठ भी सकती है, तो ऐसी बात जो एक चारुवाक है मायने सुन्दर वचन हैं उन वचनोंसे जो ठगा गया ऐसा पुरुष ध्यानका पात्र नहीं है।

कान्दर्पीप्रमुखा पञ्च भावना रागरञ्जिता ।
येषा हृदि पदं चक्रु क्व तेषा वस्तुनिश्चयः ॥३२६॥

रागरञ्जित पुरुषोंके वस्तुनिश्चय न होनेसे ध्यानका अनधिकार—जिनका आशय निर्मल नहीं है उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। शुद्ध ज्ञान जगे तो उसमें कितना अद्भुत आनन्द है। उस ही आनन्दमें यह सामर्थ्य है कि भव भवान्तर के कर्मोंकी निर्जरा कर दे। कहीं कष्टसे कर्म नहीं छूटते। आनन्दके अनुभवके द्वारा ही ये कर्म छूटा करते हैं। जो बाह्यमें बड़े-बड़े तपश्चरण दिखते हैं उन तपश्चरणोंमें रहकर साधु अन्तरङ्गमें बहुत प्रसन्न हैं, आनन्दमय हैं, ऐसी प्रसन्नता और आनन्दानुभूतिके साथ ही कर्मोंकी निर्जरा होती है। ये सब शुद्ध आशयके प्रसाद हैं। जिनका मन अशुद्ध है अर्थात् रागसे रंजित हैं, खोटी-खोटी वासनाओंसे भरा हुआ है उनको ध्यान की सिद्धि कहाँसे हो? ऐसा वातावरण मिलना, ऐसा अपने ज्ञानको लगा देना, ऐसा चित्त रमना जिससे उत्तरोत्तर ज्ञानकी भावना बढ़े और ज्ञानमय

अनुभव करनेके प्रसादसे जो आनन्द प्राप्त हुआ है उस ही आनन्दमें बसे रहनेकी अभिलाषा बने अर्थात् अपने सहज स्वरूपके अनुभवके लिए अन्तः प्रेरणा रहा करे तो इस आन्तरिक शुभवृत्तिमें ध्यानकी पात्रता बन सकती है। यह बात साधुजन तो मुख्यतया कर ही सकते हैं, पर यथाशक्ति गृहवासमें रहकर भी ज्ञानी गृहस्थके द्वारा किसी दर्जे तक साध्य हैं। अब भी तो अनेक गृहस्थ ऐसे देखे जाते हैं जो अनेक अन्य गृहस्थोंकी अपेक्षा विशुद्ध पथपर हैं, परपदार्थोंकी उपेक्षा भी जिनके जगी हुई है, केवल एक शिवपथकी भावना बनी रहती है। जिनकी भावना विशुद्ध है, आशय पवित्र है, केवल आत्महितकी दृष्टि है, किसी पक्षका व्यामोह नहीं है, ऐसे पुरुषोंके ध्यानकी योग्यता बतायी गयी है। जो कांदर्पी, कैल्विषी आदि खोटी भावनाओंसे कलुषित हैं, जिन भावनाओंका वर्णन आगेके श्लोकमें किया जायगा, ऐसे कलुषित हृदय वालोंके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। इस प्रकरणको सुनकर कुछ शिक्षा यह लेना चाहिए कि हम मायाचारसे दूर रहें और लोकमें कुछ बड़प्पन दिखानेकी वाञ्छाको नष्ट कर दें और विषयोंसे विरक्त होकर अपने चित्तको ज्ञानमें रमानेका यत्न करें तो इसमें हमारा भविष्य उज्ज्वल होगा, हम मोक्षके निकट पहुचनेके पात्र होंगे। कुछ न कुछ अपने हितके लिए ऐसा अन्तरङ्गमें अपना पुरुषार्थ करना ही चाहिए।

कान्दर्पी किल्विषी चैव भावना चाभियोगिकी।
दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पञ्चतयी च सा ॥३२७॥

ध्यानेच्छु जनों द्वारा त्याज्य कान्दर्पीप्रमुख पञ्च अशुभभावनायें— ५ प्रकारकी ये खोटी भावनाएँ हैं जिन भावनाओंमें निवास करने वाले गृहत्यागी जनों का भी ज्ञान सही नहीं हो सकता और न उनके ध्यानकी सिद्धि हो सकती, वे ५ भावनाएँ कौनसी हैं— एक कांदर्पी, दूसरी कैल्विषी, तीसरी अभियोगि, चौथी आसुरी और ५वीं समोहिनी। कांदर्पी भावना—काम सम्बधी विकार की वृत्तिको चिन्तनाको कहते हैं। इससे कामसम्बंधी विचार चलते हैं और बढ़ते हैं, ऐसी मनोवृत्ति जिनके हो वे ध्यानके पात्र क्या—ज्ञानके भी पात्र नहीं हो पाते। दूसरी भावना है कैल्विषी, क्लेश करने वाली। किसी भी प्रकारके व्यवहारसे दूसरेको क्लेश पहुचे ऐसी मनोवृत्तिको कैल्विषी भावना कहते हैं। जैसे गृहत्याग तो कर दिया, अब मनमें आकर ऐसा उद्दण्ड व्यवहार रखना जहाँ दूसरोंको कष्ट पहुंचे दूसरोंके प्रति लघुताका मनोभाव रखकर उन्हें संक्लेश करने वाले वचन बोलना ऐसी वृत्ति जहाँ है वह कल्विषी है, तीसरी है अभियोगिकी भावना, युद्ध भावना। यहाँ वहां

आत्माके सहजस्वरूपकी चर्चामें चिन्तनामें अधिकतर रहना चाहिए।

अनासादितनिर्वेदा अविद्याव्याधवञ्चिता ।
असंवर्द्धितसंवेगा न यिदन्ति परं पदम् ॥३३०॥

अविरक्त अज्ञानी जनोंकी परमपदकी अपात्रता--जिनमें निर्वेद उत्पन्न नहीं हुआ, संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्ति नहीं हुई वे पुरुष भी आत्माके इस निराकुल उत्कृष्ट पदको प्राप्त नहीं कर सकते। संसारका अर्थ है विभाव विकार, शरीरका अर्थ है देह और भोगका अर्थ है ये समस्त बाह्यपदार्थ। जिनकी इन तीनमें रुचि है वे इन तीनोंके साधनोंका ही काम करेंगे। मोक्षमार्गकी साधना कहाँसे बन सकेगी? अपने रागद्वेषादिक विकारोंकी रुचि है अर्थात् अपने रागादिक भावोंके कारण मौज माना करते हैं, हमें खूब मौज है, अपने वैभव परिजनके रागवश जिनकी ऐसी अनुभूति चलती है उनके ध्यानकी कैसे सिद्धि हो? यह देह दुर्बल हो तो शोकमग्न हो जाते, देह बूढ़ा होने लगा तो शोकमग्न हो जाते, देह पुष्ट हुआ उसमें हर्ष मानते, केवल एक देहसे ही अपना सब कुछ महत्त्व जो कूता करते हैं ऐसे देह-दृष्टियोंके भी ध्यानकी सिद्धि कहाँसे हो? ये समस्त पौद्गलिक समागम वैभव भोगमें सामिल हैं, क्योंकि इन्द्रियोंके द्वारा भोगा जाता है स्पर्श, रूप, रस, गंध और शब्द। ये सभीकी सभी पुद्गलकी पर्यायें हैं, और जो कुछ निकट हैं, दिखते हैं वे सब पौद्गलिक ठाठ हैं। इन ठाठोंकी जिनके रुचि जगी है वे इन ठाठोंसे ही तो बाहरी विकल्प रखा करेंगे, उन्हें आत्म-ध्यानकी सिद्धि कहाँसे हो। जिन्हें वैराग्य नहीं उत्पन्न हुआ, जो अज्ञान-रूपी शिकारीसे वंचित हैं अर्थात् जिनपर अज्ञान शिकारीका आक्रमण है, मिथ्यात्वकी वासनासे वासित हैं, जिनको मोक्ष और मोक्षमार्गमें अनुराग भी नहीं जगा उनके ध्यानकी सिद्धि कैसे हो सकती है?

कैवल्यकी रुचि विना कैवल्यविकासकी असम्भवता—मैं केवल अपने स्व-रूप हूं, अन्य किसी रूप नहीं हूं ऐसी कैवल्यकी रुचि हुए विना कैवल्य विकासरूप मोक्षकी धुन नहीं बन सकती। जिन्हें कैवल्य प्राप्त करना है उन्हें अभीसे कैवल्यकी श्रद्धा भी तो करना चाहिए। कैवल्यका अर्थ है प्योर, खालिस, मात्र, सिर्फ। मैं मैं ही हूं, मुझमें दूसरे पदार्थका अस्तित्व, गुण जुड़ ही नहीं सकता, ऐसा अपने आपको अभेद्य, अछेद्य, अखण्ड, शाश्वत माने तो इस श्रद्धाके बलपर जो मेरा ध्यान बनेगा और उस ध्यान की धुनके कारण जो भी व्रत संयमकी प्रवृत्ति होगी वह सब मोक्षमार्ग है और यह मुक्तिको प्राप्त कर लेगा। पर मोक्षकी नींव अपने आपके कैवल्य स्वरूपकी श्रद्धा करना है। जैसे चावलोंको जिनमें कूड़ा-करकट भी मिले

हैं उन्हें कोई शोधता है तो वह तभी शोध सकता है जब उसे यह मालूम हो कि ये चावल हैं और ये कूड़ा करकट आदि है। जब इतना विशिष्ट बोध हो कि चावल ये हैं, कूड़ा करकट इत्यादि तो चावलके स्वरूपसे बाहरी चीजें हैं तब ही वह उन चावलोंको शोध सकता है। कोई साधारण देहाती पुरुष चाहे इन शब्दोंमें न कह सके मगर बोध ऐसा ही होता है जैसे सप्त-तत्त्वोंकी चर्चा पशुपक्षी नहीं भी कर सकते, मगर आत्मस्वभावका दर्शन जैसे पुरुषोंको हो सकता है, जिनके सम्यक्त्व जगा है, तो चावल शोधने वालोंके यह निर्णय है कि चावल तो चावल ही हैं तभी तो शोध लेते हैं, दूसरी चीजोंको अलग कर देते हैं, ऐसे ही आत्माके प्रति यह निर्णय हो कि मैं केवल ज्ञायकस्वरूप हू, अपने स्वरूपमात्र हू, भले ही साथमें बड़ा झमेला चला आया है और वर्तमानमें भी है लेकिन सर्वप्रसंगोंमें यह मैं अपने स्वभावमात्र ही रहा आया, किसी पररूप नहीं हुआ, ऐसी कैवल्यकी श्रद्धा हो तब ज्ञानरूपी दृष्टिसे निरखकर ज्ञानमात्र रहनेरूप अपने आपको समस्त परभावोंसे जुदा कर सकते हैं। तो जिसे अपने कैवल्यस्वरूपमें अनुराग नहीं जगा, मोक्ष और मोक्षमार्गमें अनुराग नहीं हुआ ऐसे पुरुषको भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती।

न चेत' करुणाक्रान्तं न च विज्ञानवासितम्।
विरत च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातु' न स क्षम ॥३३१॥

निष्करुण ज्ञानहीन असयत जनोंकी ध्यानमें अक्षमता--जिसका चित्त दया से भीगा हुआ नहीं है, जिसका चित्त वस्तुस्वरूपके ज्ञान विज्ञानसे वासित नहीं है, जिसका चित्त पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे भोगोंसे विरक्त नहीं है वह भी ध्यान करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है। जब अपने आपके पर्याय में विशेष अपनायत रहती है तब वह अपने आपकी इस पर्यायको रखने जैसा ही तो यत्न करेगा। उसे दूसरोंके प्रति अनुकम्पा नहीं जग सकती। जिनका कुछ अपने आपकी पर्यायके प्रति आत्मीयताका ढीलापन होता है उनमें दूसरोंके प्रति भी कुछ कुछ दया जग सकती है। जैसे व्यवहारमें जो खुदगर्जीमें अधिक रहते हैं उनको दूसरे प्राणियोंके प्रति दया नहीं होती। और, जिनके खुदगर्जीकी वासना कम है उनको कुछ कुछ दया होती है और जिनमें खुदगर्जी रच नहीं है उनके दयाका विस्तार सब जीवोंपर होता है, तो दयाका भाव ज्ञानी और विवेकीके ही हो सकता है। जिनका दयासे वासित चित्त नहीं है वे ध्यान करनेके पात्र भी नहीं है। केवल अपने लिए इन्द्रियविषयोंके साधनोंके जुटाते रहनेका ही यत्न होना, यह तो ध्यानका अतीत विरोधी परिणाम है। सप्ततत्त्व क्या है, आत्मा क्या है, वस्तुका

स्वरूप कैसा, मैं कैसा हू, कबसे हू, किस परिणाममें कैसा हुआ करता हू ये सब तथ्य जिनके चित्तमें नहीं बसे हुए हैं उनके ध्यानकी समर्थता नहीं होती। जिन्हें रसीले पदार्थ खानेकी धुन बनी रहती है, सुगंधित वासनाओं में ही जिनका मन प्रसन्न रहा करता है उन पुरुषोंके भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है। यह प्रकरण चल रहा है कि जैन मतके होकर भी अन्तरङ्गमें कौन सी कमी रहती है जिसके कारण वे भी ध्यानकी सिद्धिके पात्र नहीं होते। यह क्रमसे वर्णन चल रहा है। पहिले गेहवासियोंको ध्यानका अपात्र कहा, फिर मिथ्या मानने वालोंको ध्यानका अपात्र कहा और अब जन मतके अनुसार साधुताका ग्रहण करनेपर भी कौनसी भावनाएँ ऐसी रहा करती हैं जिनसे वे भी ध्यानके अपात्र रहते हैं, यह वर्णन चल रहा है।

लोकानुरञ्जकै. पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिता'।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रता ॥३३२॥
अनुद्धनमन.शल्या अकृताध्यात्मनिश्चय'।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने ॥३३३॥

ध्यानसाधनाके अपात्र प्राणियोंका वर्णन—जो साधु पुरुष किसी भावुकतामें आकर पापकर्मोंको करके भी अपना गौरव अनुभव करते हैं, जो पाप लोगोंको अनुरंजित करनेके लिए किए गए हैं वे ध्यानके पात्र नहीं कहे गए हैं। लोग खुश हों, प्रसन्न हों, वाह-वाह करें ऐसे प्रशंसाके परिणामसे अथवा प्रशंसाका ऐसा भाव रखना ही पाप है, ऐसे पापरूप कार्योंसे जो गुरुताको प्राप्त है, अथवा कोई आरम्भ परिग्रहकी भी बात कर लें इस दृष्टिसे कि लोग अनुरञ्जित हो जायें तो ऐसे पापकार्योंमें रहने वाले साधु ध्यानके पात्र नहीं हैं। साधु तो अलिप्त और अपने आत्माकी साधनाके उत्सुक रहा करते हैं। जिनका चित्त अपने आत्मामें रञ्जित नहीं हुआ, अपने आपके उपयोगको अपने आपमें जो नहीं डुबाते, अपने आपमें अपने आपका जो निरीक्षण नहीं करते, अपने ज्ञानप्रकाशके अनुभवका अभ्यास नहीं करते ऐसे पुरुष ध्यानकी सिद्धि नहीं प्राप्त करते। जो पुरुष इन्द्रियके विषयोंकी गहनतामें लीन हैं, जिन्होंने अपने मनके शल्यको दूर नहीं किया, जिन्होंने अपने चित्तसे खोटी लेश्यावोंको नहीं हटाया वे भले ही तपश्चरणकी प्रवृत्ति करें, किन्तु अन्य व्यक्तियोंके प्रति बदला लेनेकी भावना नीचा दिखानेकी भावना, दूसरोंसे अपने आपको उत्कृष्ट माननेकी भावना आदिक ये चित्तमें वासनाएँ चलती रहती हैं तो वे पुरुष भी ध्यानके पात्र नहीं होते। ध्यानमें करना क्या है? रागद्वेष रहित केवल जानन जानन ही है, और ध्यानका रूप ही क्या है, विशुद्ध ज्ञाता द्रष्टा बना रहना, सो ध्यान

है। तो ऐसे ध्यानका पात्र तभी हो सकता है कोई जब अपने आपके आत्मस्वरूपका निश्चय भी तो हो। जिन्होंने अध्यात्मका निश्चय नहीं किया उनमें ध्यानसिद्धिकी योग्यता नहीं होती। सब प्रकरणोंसे हम अपने लिए यह शिक्षा लें कि हम सरल बनें, तत्त्वके स्वरूपका परिज्ञान करें, इन बाहरी भोगोंसे विषयोंसे चित्तको हटायें, अपने आपमें मग्न होनेका यत्न करें, यही हमारे भविष्य सुधारकी बात बनेगी। अन्य कोई भी पदार्थ मेरे लिए शरण न होगा।

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः।
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गा मोहनिद्रास्तचेतसः ॥३३४॥
अनुद्यकास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः।
ससङ्गाः शङ्किता भीता मन्येऽमी दैव वञ्चिताः ॥३३५॥
एते तृणीकृतस्वार्था मुक्तिश्रीसङ्गनिस्पृहाः।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणम् ॥३३६॥

पापसूत्रोपदेशक मोहोन्मत्त जनोंकी ध्यानाक्षमता--जो पुरुष हास्य कौतूहल कुटिलता तथा पापसूत्रोंके उपदेशक हैं अज्ञानरूपी ज्वरसे जिनका आत्मा शीर्ण हो गया है, मोहरूपी निद्रासे जिनकी चेतना अस्त हो गयी हैं ऐसे पुरुष भी उत्तम ध्यानका अन्वेषण करनेके लिए क्षणमात्र भी समर्थ नहीं हैं। कुछ शास्त्र लिखें अथवा उपदेश करें, अत्यन्त हास्य भरे कौतूहल भरे, मायाचारसे पूर्ण हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पापोंकी वृत्तियों से सहित जिनमें उपदेश हैं ऐसे व्याख्यान करें तो जैसे चित्तका होता है वह उस ही प्रकार तो बोलता है। तो जिसको चित्तमें इतनी कलुषता है उसके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। अज्ञानरूपी ज्वरसे जिनका अग शीर्ण हो गया है, आत्माका अंग है आत्मा ही, भ्रमपूर्ण विज्ञानसे जिनके आत्मा का शान्तिबल जीर्ण हो गया है, छिन्नभिन्न हो गया है ऐसे पुरुष भी ध्यान करनेमें समर्थ नहीं होते। किसका ध्यान करें? जिनके अज्ञानभाव बसा है वे ध्यान करेंगे बाहरीपदार्थोंका, और, बाहरीपदार्थोंपर किया हुआ उपयोग चूँकि वह पदार्थ पर है, भिन्न है, क्षणिक है और यह उपयोग भी परमें अनुरक्त है, क्षण क्षणमें चंचलताको रखने वाला है इस कारण उनका चित्त नहीं रह सकता। मोहरूपी निद्रासे जिनकी चेतना अस्त हो गई है अर्थात् चेतना नष्ट तो नहीं हुई किन्तु अस्त हुई है, चेतना कहाँ नष्ट हुई है। सूर्य अस्त हो गया इसका अर्थ यह नहीं है कि सूर्य नष्ट हो गया, तिरोभूत हो गया, अब देख नहीं सकते, अब प्रकाश और विकासमें नहीं है, इसी तरह मोहनिद्राके कारण यह चेतना अस्त हो जाती है, इसका प्रकटरूप नहीं

रहता, विकास नहीं रहता. ऐसी जिसकी चेतना अस्त हो गई है वह पुरुष भी इस आत्मध्यानके करनेमें समर्थ नहीं है। इस जीवपर जो मोह छाया है यह सबसे बड़ी विपदा है, यही सबको प्रिय लगता है, यह हाल है मोहनिद्रामें सोये हुए जीवोंका। जिस मोहसे दुःखी होते हैं उस ही मोहको सुखकारी मानते हैं, उसमें ही मौज माना करते हैं। फल यह होता है कि और भी मोहकृत दुःख बढ़ने लगता है। तो जो मोहसे पीड़ित पुरुष हैं उनके उत्तम ध्यानकी सिद्धि नहीं होती।

मुक्ति, तत्त्व व तपके अनुरागी परिग्रहलालस जनोंकी ध्यानकी अपात्रता—जो पुरुषतप करनेमें अनुद्यमी हैं, तपकी ओर भाव ही नहीं जाता, तपमें उद्यम करना ही नहीं चाहते। जो विषयोंके भोगनेमें लालस हैं, जैसे कहते हैं ना ग्रास कर देना, जो विषयोंका आत्मसात करना चाहते हैं ऐसे पुरुष आत्माका ध्यान कहाँ कर सकते हैं? जो सगपरिग्रहसहित हैं, भयोंसे भीत हैं ऐसे पुरुष तो मानो दैवके द्वारा ठगाये गये हैं। उन पुरुषोंको ध्यानकी सिद्धि कहासे हो? इन पुरुषोंने आत्महितको तो तृणके समान समझा है और मुक्तिश्रीके सगसे निष्पृह हैं वे पुरुष आत्मध्यान कहाँसे करेंगे? ज्ञानी पुरुष सासारिक सुखोंको तृणवत मानते और मुक्तिश्रीके सगमें स्पृहा। वे सासारिक सुखोंसे स्पृहा हैं तो ये अज्ञानी भी क्यों उनसे कम रहें, शब्द तो वे ही आ जायें, तो अज्ञानियोंने आत्महितको तृणवत माना और मुक्तिश्रीके सगसे स्पृहा हो गए। शब्द तो वे ही रहे। शब्दोंकी बड़ी रक्षा की। जैसे दूसरे गुणस्थानका नाम है सासादन सम्यक्त्व। तो लोग ऐसा समझते हैं कि यह भी एक छोटा मोटा सम्यक्त्व है क्योंकि नाम है ना सासादन सम्यक्त्व। तीन तो सम्यक्त्व अच्छे हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायक। लेकिन सासादन सम्यक्त्वका अर्थ है सम्यक्त्वकी विराधना। कोई किसीकी प्रशसा करे— साहब इनका क्या कहना है, यह साहब निर्धन हैं। और, निर्धनमें धन शब्द लगा है ना तो इसको सुनकर वह खुश हो जाय, ऐसे ही सासादन सम्यक्त्व भी है। तो ये अज्ञानीजन आत्महितको तो तृणवत मानते हैं, उस ओर दृष्टि ही नहीं है, कुछ उसका मूल्य ही नहीं है। ऐसे पवित्र जीवनको, ऐसे अमूल्य अवसरको विषयभोगोंमें यों ही बेहोश होकर खो रहे हैं ये पुरुष ध्यानके क्या पात्र हैं। जिनकी खोटी भावना रहती है, अपने हित अहितका विचार नहीं होता वे पुरुष समीचीन ध्यानको खोज भी नहीं कर सकते। साफ और स्पष्ट बात यह है कि अपना यदि भला चाहते हैं तो मायाचारका तो परित्याग करें और अपने ज्ञानस्वरूपकी भावनामें और उस ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिके निमित्त सदाचार

में प्रयत्नशील यही एक कल्याणका मार्ग है और शेष तो सब जीवन खोना है। मान लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा पिता है, यह मेरा वैभव है, ये लोग मेरे हैं, ये गैर हैं, हमारी इज्जत अच्छी है, ये सब मोहकी नींदके स्वप्न हैं, क्या रहता है इनमेंसे कुछ। जैसे नींदमें जो स्वप्न आते हैं उन स्वप्नोंमें जो कुछ दिखता है वह सही लगता है किन्तु जब आँखें खुल जाती हैं तब सच्चाई विदित होती है कि कुछ भी तो न था। सब निराधार बात केवल एक सोचनाभर है। कैसी विचित्र कल्पनाएँ हैं। कभी कभी तो जगते हुएमे भी ऐसी कल्पनाएँ बनती रहती हैं। यह करना है, वह करना है, फिर यों बन जायेंगे, यह सब क्या है ? सब स्वप्नकी तरह है। जहाँ हित अहितका विचार नहीं, अपने आत्मकल्याणकी भावना नहीं, बाहरी समागमोंमें ही जो लगनेकी बात चलती है वहां वह आत्मध्यानका पात्र नहीं है।

पापाभिचारकर्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः।
यैः क्रियन्तेऽधमैर्मोहाद्धा हत तैः स्वजीवितम् ॥३३७॥

लम्पट पापाभिचारी अधम जनोंके जीवनकी व्यर्थता व दुःखरूपता—जो पुरुष सातावेदनीयके उदयसे उत्पन्न हुए सुख और अणिमामहिमा आदिक ऋद्धियोंमें धनसम्पदा आदिक वैभवोंमें और रसीले भोजन आदिकमें लम्पटी हैं, मोहसे पापाभिचारकर्म करते हैं उनके लिए आचार्यदेव खेद सहित कह रहे हैं कि हाय इन्होंने अपना जीवन नाश किया, अपनेको संसारसमुद्रमें डुबो दिया, इस ओर दृष्टि नहीं जाती। और, कभी इस तरहका भाव जगे तो दूसरेपर दृष्टि जायगी, इसने अपना जीवन नष्ट किया अपनेको संसारमें डुबो दिया। अपने आपके प्रति ऐसी दृष्टि जगना बहुत कठिन बात है, जगे ऐसी दृष्टि फिर तो कल्याण सरल है। यहीं तक कठिन बात है। अपने आत्मस्वभावका परिचय होना कितना सुगम है, जिससे सुगम अन्य कुछ घटना कही नहीं जा सकती। लोकमें कितनी घटनाएँ होती हैं—व्यापार है, मकान है, दूकान है, देशसेवाके काम हैं, परस्परकी लड़ाईमें युद्धके और और आविष्कारोंसे काम हैं ये सब घटनाएँ उतनी सरल नहीं हैं जितना सरल अपने स्वभावका अनुभव कर लेना है, लेकिन जब इसकी दृष्टि नहीं जगती तो सारा कठिन है, और दृष्टि जगे तो सारा सरल है। जो पुरुष संसारसुखमें लम्पटी हैं उनकी दृष्टि आत्महितके लिए नहीं बन सकती है, ध्यान कहाँसे हो ? जिन्हें पुण्योदयसे अणिमा महिमा आदिक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं, देवगतिमें उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हें ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो जाती है कि अपने शरीरको छोटा, बड़ा, हलका, वजनदार बहुतसे शरीर एक तरहके अथवा

कहो ऐसा रूपक बना लें कि पहाड़ जैसा लगे। जैसी चाहे चीज बना डालें, वहाँ भी पुण्यका सुयोग मिला है, और मनुष्योंमें कुछ तपश्चरणके प्रतापसे, मंदकषायोंके प्रतापसे जो जो भी साधन हैं उससे ये ऋद्धिया मिलती हैं, तो इन ऋद्धियोंके जो भी लम्पट हो जाते हैं वे आत्मध्यानका विगाड़ कर लेते हैं, ध्यानके वे पात्र नहीं हैं। ११ अग ६ पूर्वकी साधना कर चुकनेके बाद साधु जब दस पूर्वकी साधना करता है उस प्रकरणमें देविया आकर प्रार्थना करती हैं—तुम साधु हो गए, हमें हुक्म दीजिए, हम आपकी दासी हैं। उस समय अपने उपयोगका सम्हालना, यह एक उस समयका बड़ा पुरुषार्थ है। जो सम्हाले सो तो पार हो गया, जो जो न सम्हाले सो तो बह गया। तो इन ऋद्धियोंको पाकर वैभवको पाकर धर्मका ख्याल होना कितना कठिन है, आप देख लीजिए--कुछ जानकार भी हैं, वैभवसम्पन्न भी हैं, उनमें कितने पुरुष धर्मकी ओर रुचि रखते हैं। कितने ही लोग तो स्पष्ट कहते हैं कि धर्मका फल हमें मिल चुका है, धर्मकी क्या जरूरत है ? धर्म तो उन्हें करनेका काम है जिनके कुछ है नहीं। तो यह भी एक कितनी विडम्बना है सम्पदा वैभव जिसमें लम्पट होकर सब सुधबुध खो देते हैं। ऐसे पुरुष क्या आत्मध्यान कर सकेंगे ? जिनको पापाभिचार की प्रवृत्ति है, इन्द्रियके विषय जिन्हें सुहावने लगते हैं, जिनके मनकी दौड़ इन्द्रियविषयोंमें मनके विषयोंमें लगी रहती है उन पुरुषोंके आत्मध्यान की पात्रता तो नहीं है। और, आचार्यदेव उनके प्रति कहते हैं कि यह जीवन उन्होंने नष्ट कर दिया। यदि न मिलता मनुष्यभव तो वह ज्यादा अच्छा था। उसका नम्बर तो बना रहता त्रसकी पर्यायमें। एक नम्बर गंवा दिया, ऐसे जीवोंने अपनेको ससारसमुद्रमें डुबो दिया। वे पापाचार कौन कौनसे हैं उनको अब चार श्लोकोंमें कह रहे हैं।

वश्याकर्षणविद्वेष मारणोच्चाटन तथा।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम् ॥३३८॥
पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ।
विद्याछेदस्तथा वेध ज्योतिर्ज्ञान चिकित्सितम् ॥३३९॥
यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धय कालवञ्चना।
पादुकाञ्जननिस्त्रिंशभूतयोगीन्द्रसाधनम् ॥३४०॥
इत्यादिविक्रियाकर्मरतैरतिदुष्टचेष्टितै।
आत्मानमपि न ज्ञातु नष्ट लोकद्वयच्युतै ॥३४१॥

पापाभिचारोंका वर्णन और पापाभिचारियोंकी ध्यानाक्षमताका निरूपण—

जो आचरण पापाशयोंसे भरे हुए हैं, जिन आचरणोंमें रहकर आत्माकी

सुध लेनेकी पात्रता भी न रहे ऐसे ये पापाभिचार अनेक हैं। वशीकरण—दूसरेको वश करनेका संकल्प रखना और ऐसे ही मत्र तंत्र साधनोंकी फिक्र रहना यही वशीकरण पापाभिचार है। भला पुरुष वश नहीं होता, उसे वश करनेके लिए जो एक साधना की जाती है उसमें आशय कौनसा विशुद्ध रखा ? आकर्षण—किसीको अपनी ओर खींचनेका परिणाम बनाना, कोई खिंचे, आकर्षण रहे, उसकी बात नहीं कह रहे किन्तु खुदकी ओरसे ऐसा भाव रहना कि लोग मेरी ओर आकर्षित हों, यह कोई पवित्र आशय नहीं है। विद्वेषन—दूसरोंसे विद्वेष रखना, ईर्ष्याका परिणाम होना, यह पापाभिचार ही तो है। किसीको मारनेका सकल्प करना, उपाय रचना, विद्या सिद्ध करना यह चूँकि मरणके अभिप्रायको लिए है अतएव पापाभिचार है। किसीको विक्षुब्ध करना, उच्चाटन करना, यह सब पापाभिचार है। जल, अग्नि और विषका स्तम्भन करना, उन्हें रोकना, बढाना, अतिशय करना, किसीके विघातके लिए अथवा लोकचमत्कारके लिए इनका आश्चर्यजनक प्रयोग करना, रसरसायन वगैरह कामविकार बढे, ऐसे कुछ प्रयत्न बनाना यह सब पापाभिचार है। नगरमें क्षोभ उत्पन्न करना यह भी पापाभिचार है। किसी समय बताते है लोग एक बार सहारनपुरमें एक पुरुषके पास गिलटकी चवन्नी थी, वह चलती न थी, किसी जगह धोखा देकर वह चवन्नी सही पैसोंमें चला ली। मारे खुशीके वह यह कहता हुआ दौड़ा, चल गयी, चल गयी। उस समयका वातावरण कुछ तनावका था तो लोगों ने झट अपनी-अपनी दूकानें बन्द करना शुरू किया, एक हल्लासा मच गया, लोग घरोंमें घुस गए। लोगोंने समझा कि लाठी चल गई। तो ऐसे वचनोंके द्वारा नगरमें क्षोभ उत्पन्न करना पापाभिचार है। इन्द्रजाल विद्या की साधना करना ये लोकचमत्कारके जितने काम हैं उनमें कौशल प्राप्त करना ये सब एक सांसारिक ही तो बातें हैं। सतावधानीकी विद्या सीखनेसे यह परिणाम रहता है कि मैं लोगोंको सावधानीकी बात बताऊँ, और उसके लिए यत्न करते हैं तो भी यह उत्तम आशय नहीं है। एक सतावधानीका क्षयोपशम हो वह बात अलग है, और विद्या सीखना इस आशयसे कि मैं लोगोंको चमत्कार दिखाऊँ, यह आशय ठीक नहीं है। हाँ ध्यान साधनाके लिए जो अपना विचार केन्द्रित किया जाय और उससे असावधानी वढ़ जाय वह बात दूसरी है। आशय जहाँ मोक्षमार्गके लिए प्रयोजक हैं वह तो है उपादेय और जो एक सासारिक महत्ता वढानेके लिए है वह तो ससार की ही बात है। जीतहारका विधान बताना यह भी पापाभिचार ही तो है। अमुक जीत जाय, अमुक हार जाय, ऐसा विद्याछेदनका विधानसाधन—

पढित जी साहब कोई ऐसा जाप जप दीजिए कि हम जीत जायें। अरे हम जीत जायें ऐसा आशय बनाया तो इसका यह अर्थ हुआ कि दूसरा हार जाय। अरे दोनों सुखी रहें ऐसा मंत्र साध लो, सारा जगत सुखी रहे ऐसा मंत्र साध लो, किसीकी जीत किसीकी हारका मंत्र क्यों साधते? चाहे कैसा ही मामला हो—जिताना ही है—विद्याके छेदनेका मंत्र साधन करना, जो विद्याभेदी पुरुष होते हैं, मंत्रवादी, अमुकने यों किया, अमुकने यों किया, उसने विद्या छेद दिया, उसने उससे भी ज्यादा करामात दिखाया। उसने उसकी करामातका काट कर दिया ऐसा करने वाले लोग जो साधना करते हैं वे दुनियाको अद्भुत चमत्कार दिखानेके लिए ही तो करते हैं। अपने हितको साधनाके भावसे जो नमस्कार मंत्रकी शुद्ध भावना रखे तो उसके यह प्रताप नियमसे जगेगा कि दूसरेका मंत्र और विद्या सता न सकेगा। तो दूसरोंको जो चमत्कार दिखानेके लिए मंत्रादिक साधता है वह पापाभिचार है, और उन प्रवृत्तियोंमें रहने वाले पुरुष ध्यानकी क्या साधना करें? वे तो इस लोकसे भी गये और परलोकसे भी गए। अपनेको ध्यान-पात्र बनानेके लिए रत्नत्रयकी शरण गहना चाहिए। सदाचारसे अपना जीवन व्यतीत हो और लक्ष्यविशुद्धि हो।

लोकचमत्कारसिद्धिके अभिलाषी जनोंसे भी ध्यानलाभका अभाव—जो लोग सांसारिक चमत्कारोंकी इच्छासे नाना प्रकारके मंत्राभ्यास करते हैं उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। पातालसिद्धिका विधान, जमीनमें कहाँ कैसा है, जलमें खड़ाऊँ पहिनकर विहार करनेकी विद्याकी साधना, आकाशमें विहार करनेकी विद्याकी साधना, आकाशमें विहार करनेकी विद्याकी साधना, मृत्युको जीतनेका मंत्र साधना, लोगोंको न दिखें, ऐसे अंजनकी साधना, गड़े हुए धनको आँखोंसे देखनेकी साधना, भूतादिककी सिद्धिकी साधना, इनमें ही जिनका चित्त है उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं है। कई बातें यद्यपि तपस्याके प्रभावसे सिद्धि रूपमें प्रकट होती हैं पर अभिलाषाकी बात दूर जाने दो, ऋद्धि प्रकट होनेपर भी उन्हें पता नहीं पड़ पाता कि मुझे ऋद्धि हुई है। ऐसी केवल अपने आत्महितकी ओर जिनकी दृष्टि रहती है वे साधु ही ध्यानकी सिद्धि कर सकते हैं, आदिक अनेक विक्रिया कर्मोंके, अनेक मंत्र साधनोंके लौकिक चमत्कारोंके अथवा कोई हाथकी सफाई करके दुनियाको चमत्कारके खेल दिखानेकी सिद्धि करते हैं उन्होंने तो आत्मज्ञान से भी हाथ धोया। ऐसे पुरुषको ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। यह अधिकार चल रहा है—कैसा ध्याता प्रशंसनीय है? उसी सिलसिलेमें कैसे पुरुषके ध्यान नहीं बन सकता है? उसका वर्णन है।

यतित्व जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिता ।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः ॥३४२॥
निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम् ।
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥३४३॥

सन्मार्गविराधक साधुवोंकी दुर्गतिपात्रता—कई साधुजन यतीपनेको अपनी आजीविकाका उपाय बनाते हैं। कितने ही लोग इसी बातपर संतुष्ट हैं कि बड़े आरामसे और बडे आदरके साथ जीविका निर्वाह होता जा रहा है, इस ही बातमें सन्तुष्ट होकर अपने जो व्रत तप, आचरण हैं उनको करते रहते हैं। कहते हैं वे भी आत्मध्यानकी सिद्धिके पात्र नहीं हैं। आत्माके स्वभावका पता हो तब तो ध्यान हो, जिन्हें इस स्वभावका परिचय ही नहीं है, बाह्यसाधनोंमें ही जिनका चित्त है, उनमें ही सन्तुष्ट हैं। कहते हैं कि ऐसे साधुजन मुनिधर्मको जीविका का उपाय बनाते हुए लज्जित क्यों नहीं होते ? जैसे कोई पुरुष अपनी माताको ही एक वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करे, जैसे यह अतिनिन्द्य काम है ऐसे ही जो साधु होकर उस साधुत्वको जीवनका उपाय बनाये और उसके द्वारा धनोपार्जन करे, कुटुम्बपोषण करे वह अत्यन्त निर्लज्ज है। ऐसा पुरुष सन्मार्ग की विराधना करके नरकमें प्रवेश करता है। साधुत्व तो आत्मसाधनाका नाम है, और उपाय निर्ग्रन्थ निरारम्भ निष्परिग्रह हुए बिना नहीं हो सकता। इस कारण साधुत्व का जीवन निरारम्भ निष्परिग्रह होता है। कोई पुरुष बाहरी आरम्भ परिग्रहोंको छोड़कर भीतरमें आरम्भ और परिग्रह बना बनाकर संकल्प विकल्पसे वासित होकर सन्तुष्ट रहे कि हमारा जीवन अच्छा निभ रहा है, जिन्दगी ठीक कट रही है, कोई तरह की चिन्ता नहीं, केवल उस साधुत्वको मूलमें अगीकार कर लेता है तो वह ध्याता नहीं हो सकता है।

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम् ।
मुक्त्यङ्गं लिङ्गमादाय न श्लाघ्यं लोकदम्भनम् ॥३४४॥

जिनलिङ्ग धारण करके लोकदम्भन करनेके अनाचारकी निन्दा—कहते हैं जो गृहस्थावस्थामें हैं उनके तो इस प्राथमिक दशामें ऐसा अज्ञानका आश्रय करें तो युक्त भी कहा जा सकता है, किन्तु मुक्तिके अगरूप साधुलिङ्गको धारण करके फिर लोगोंको ठगना यह गुण भी प्रशसनीय नहीं है। जैसे कुछ लोग कहने लगते हैं कि साधुवोंसे साधुता नहीं पलती है या जैसे तैसे भी रहते हैं तो क्या हुआ, अपनेसे तो अच्छे हैं। गृहस्थजन तो बिल्कुल ही नीचेकी ओर चले जा रहे हैं। वे साधु कमसे कम इतना तो

निभा रहे हैं कि नग्न रहते हैं, ठंड गर्मीके परिषह सहते हैं। इसमें तो ठीक है लेकिन इस श्लोकमें यह बताया है कि गृहस्थ यदि कुछ नहीं निभा पाते तो उनकी व्रत क्षेत्रमें जिम्मेदारी नो नहीं है। कुछ ऐसा तो नियम नहीं है कि जो प्रतिमा धारण ले सो ही गृहस्थ है। कोई प्रतिमा धारण करते हैं, कोई नहीं धारण करते, यह उनकी मर्जी है लेकिन साधु तो एक परमेष्ठी है और उसे द्विज कहते हैं, उसका दूसरा जन्म माना गया है। जैसे इस जन्मके बाद अर्थात् मरण होनेपर दूसरा जन्म मिले तो इस जन्मका कोई सम्बंध नहीं, कोई ममता नहीं, कोई रिश्ता नहीं। तो दूसरा जन्म मिलने पर पहिले जन्मका रिश्ता सम्बध कुछ नहीं रहता, ऐसे ही साधु होनेपर गृहस्थावस्थाकी जो बातें थीं उनका सम्बन्ध नहीं रहता, इसे द्विज कहते हैं। वहाँ तो जो महाव्रत अंगीकार किया है, जो संयमधुरा धारण की है उसका तो निभाव शास्त्रोक्त होना चाहिए। यदि वह साधुलिङ्गको ग्रहण करके लोकको ठगता है अर्थात् अपना श्रद्धा, ज्ञान, आचरण नहीं निभा पाता, प्रमादग्रस्त रहता है, हमारा जीवन अच्छा निकल रहा है, आजीविका ठीक चल रही है ऐसा जो [साधु विचार करते हैं और उस साधुत्वकी आड़में अनेक प्रकारके मंत्र तंत्रादिक करे, उनसे व्यापार आदिककी बातें बना बनाकर जो लोकमें दम्भ करते हैं वे प्रशंसनीय नहीं हैं, साधुका भेष धारण करके ऐसी क्रियायें करे कोई तो उनसे तो ये गृहस्थजन अच्छे हैं, क्योंकि उनसे धर्मकी निन्दा तो नहीं हुई। वे गृहस्थ साधु न हुए तो उनके उत्थानपर धर्मकी अप्रभावना तो नहीं है। बहुतसे अनन्त जीव हैं, यह एक मनुष्य हो गया, जैनकुलमें उत्पन्न हो गया, इतनी ही तो बात हुई। बहुतसे जीव धर्मसे असम्बद्ध हैं। यतीका भेष धारण करके धर्म की निन्दा न कराना चाहिए। जो पुरुष लोकदम्भ करते हैं उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती।

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नुतम्।
हेयमेवाशुभं कार्यं विवेच्य स्वहितं बुधैः ॥३४५॥

मनुष्यत्व और यतित्व पाकर अशुभकार्यपरिहारकी अनिवार्यता—इस मनुष्यपनेको पाकर और फिर जगतपूज्य मुनिदीक्षाको ग्रहण करके जो विद्वान लोग हैं, बुद्धिमान हैं उन्हें अशुभ कार्योंको अवश्य ही छोड़ना चाहिए। जरा इस लोक विस्तार पर दृष्टि देकर, कुछ ख्याल तो करें कि यह मनुष्य जन्म कितनी दुर्लभतासे प्राप्त किया है? निगोद जीव जो आगम में बताये गए हैं उनकी तो अतीत दुर्दशा है। एक श्वांसमें १८ बार जन्म मरण करें। एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिपर

ध्यान दो, उनकी कितनी दुर्दशायें लोग करते हैं। रबड़में वायु भर दिया, आगपर पानी डाल दिया, पानीको जो चाहे गर्म कर दे, और अनेक प्रकार के यंत्र तन्त्रोंसे छेद भेद कर दे, पृथ्वीको खोदे, वनस्पतिको छेदे, अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। इन कार्योंके करने वाले चूँकि समर्थ हैं और वे उस तरह का ज्ञान नहीं रखते सो विचार कर लो। एकेन्द्रियसे निकलकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय हो गए, रसना और घ्राणइन्द्रियां प्राप्त हो गयीं। तीनइन्द्रिय से चारइन्द्रिय, असञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय, सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय हो गए। पशुपक्षियोंके हाल देखो। पशुवोंको लोग किस तरहसे जोतते हैं, कौन उनके लिए नि:स्वार्थ भोजनपान देता है, कभी किसी समय दे दिया, और मारपीटकर किस तरह जोते जाते हैं, जब बूढे हो गए, किसी कामके लायक सामर्थ्य नहीं रहा तो सीधे कषायीखानेके लिए बेच दिये जाते हैं। हम आपकी ही तरहके तो वे जीव हैं, यह हाल हो रहा है। उन पशुपक्षियोंपर भी दृष्टि देकर अपना मनुष्यजन्म कितना दुर्लभ है सो विचार कर लो। किसी भी शुभ भवितव्यसे मनुष्य हुए हैं और दुर्लभतर यतिपना भी प्राप्त कर लिया है तब उनका कर्तव्य है कि अशुभ कार्योंसे बिल्कुल ही दूर रहें।

इन्द्रियविषयानुरागसे आत्मघात—भैया! इन्द्रियविजय बिना सारा जीवन विफल है।—यों सीधा कह लीजिए कि इन हतक इन्द्रियोंने इस जीवको यहाँ भी भरमा दिया। इस इन्द्रियसे जो ज्ञान होता है उसको ही हम सर्वस्व मानते हैं और उसमें ही हम सुखका अनुभव करते रहते हैं। जैसे किसी निधिवान पुरुषको किसी बहकावेमें लगा दिया और उसकी निधि लूट लिया ऐसे ही इन विकारभावोंने, इन्द्रियज्ञानने इस जीवको विषयोंकी ओर लगा दिया तो इसकी जो अनन्त आनन्दकी निधि है वह सब लुट गयी। कितने ही ठग ऐसा किया करते हैं कि किसीके पास रकम है और वह जा रहा है तो उसका ध्यान ऐसा बटा देते कि पीछेसे किसीने पैसे बिखेर दिया और कहा—तुम्हारे ये रुपये गिर गए हैं, वह जरा उठाने जाता है इतनेमें ही कोई ठग रकम लेकर चम्पत हो जाता है। तो जैसे कुछ भी बहकाकर दूसरेकी निधिको लूट लेना यह ठगोंका काम है, ऐसे ही इन्द्रियज ज्ञानका काम है विषयोंमें लगा देना, और यह जीव आकुल व्याकुल होता रहता है। जिस समय ये इन्द्रिय सुख भोगे जाते हैं उस समय भी तो कोई निराकुलता नहीं है। शान्तिकी मुद्रा रखकर कौन रसीला भोजन करता है। भीतर देख लो आकुलता तृष्णा लगी रहती है। उस ओर दृष्टि है, आकर्षण है तो ये सब चीजें अध्यात्मदृष्टिसे कायरता हैं। किसी भी इन्द्रियविषयको भोगते समय शान्ति मिलती हो तो बतावो? शान्ति

मिलना और बात है, मौज मानना और बात है। जहाँ परकी ओर आकर्षण है वहाँ शान्ति हो नहीं सकती। केवल खानेकी बात नहीं, स्पर्शकी बात, कामसेवनकी बात, नासिका इन्द्रियसे सूँघनेकी बात, इन सब बातों को भोगते समय क्षोभ बना रहता है। शान्तचित्त होकर कोई भी विषय-सेवन नहीं किया जा सकता है। जिन्हें विषय नहीं मिले उन्हें भी आकुलता है और जिन्हें विषय मिले हैं उनमें भी आकुलता नजर आती है। बस एक कल्पनाका भेद है। आकुलता व्याकुलता दोनोंमें बराबर है। जैसे जिसे धन नहीं मिला, दरिद्र है उसे भी व्याकुलता है और जिसे धन मिला है, व्यापार आदिक चलते हैं उसे भी व्याकुलता है। धनी पुरुषको जो कुछ मिला है वह उसे कम जच रहा है और जितना भी मिल जाय वह कम जंचेगा। मिले हुए समागमको यह कम मानता है इसलिए व्याकुल है, और जो निर्धन है, जिसके पास कुछ भी नहीं है वह धनके पीछे व्याकुल रहा करता है। हाय हमारे पास धन नहीं है। तो जैसी आकुलता व्याकुलता किसी निर्धनको है वैसी ही आकुलता व्याकुलता धनिक पुरुषोंको भी है। किसी धनिक पुरुषके निकट बसकर देख लो। जैसे किसी पुरुषकी सकल सूरत दूरसे सुहावनी लगती है। जरा निकट जाकर देखो, नाकके कानके छेद देखो तो सारी पोल खुल जायगी। दूरसे सब सुहावना लगता है। और, भी उसकी पोल खोलना है तो किसी जगह शरीरमें जहाँ फोड़ा फुंसी फूट जाय, या भीतरसे लोहू निकलता हुआ दिख जाय, वहाँ इसका सही परिचय कर लो। ये सब दूरसे सुहावने लगते हैं। ऐसे ही ये धनिक पुरुष दूर से बड़े सुखी मौजमें रहते हुए नजर आते हैं। इनके पास कार है, ठण्ड गर्म मकान हैं, बड़े आरामके साधन इनके पास हैं, जहाँ कहीं भी जाते हैं वहीं इनका स्वागत होता है, यह तो साहब बड़े आनन्दमें हैं, ऐसा दूरसे दिखता है, पर उनपर क्या बीत रही है सो वे ही जानते हैं, चित्तमें क्षोभ है, निराकुलता तो रंच भी नहीं है। तो इन विषयसाधनोंमें, इन भोगोंमे रम करके अपना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ खो देते हैं।

अनाचारसे हटकर सदाचारमे आनेका कर्तव्य–भैया! जैसे पहाड़परसे नदीका जो वेग नीचे गया सो गया, वह वापिस लौटकर ऊपर नहीं आता इसी तरह जीवनका जो समय निकल गया सो निकल गया, वह वापिस लौटकर नहीं आता। जैसे अभी लगता है कि यह ४०-५०-६० वर्षकी आयु पता नहीं कैसे निकल गई, कुछ मालूम ही न पड़ा, ऐसे ही इस जीवनका जो भी शेष समय है वह भी निकल जायगा, कुछ भी पता न पडेगा। वह समय शीघ्र ही निकट आनेको है जब कि लोग यही कहेंगे कि इसे जल्दीसे

जल्दी घरसे निकालकर मरघटमे फेंको। अर्थात् मरण निकट आनेको है। तब क्या करना चाहिए ? रही सही स्थितिमें जितना समय बचा है उसमें क्या करना चाहिए ? कुछ आध्यात्मिक आचरण हो, मायाचार न रखें, सब जीवोंमें भी उनके जीवत्वका आदर करें। जो श्रावक अवस्थामें रहकर ६ कर्तव्य बताए गए हैं उन छहों कर्तव्योंका यथाशक्ति पालन करें। देवपूजा करें, अपने जो गुरुजन हैं उनकी उपासना करें, सेवा करें, स्वाध्याय करें, यथाशक्ति दान करें, अपनी शक्तिके अनुसार सयमका भी पालन करें। जैसा जब चाहे खाते पीते तो इतना समय गुजर गया—गोभी तथा बाजारकी दही वगैरह अभक्ष्य चीजे खाया, खाने पीनेमें जरा भी विवेक न किया, जो मनमें आया सो खा लिया। इस तरहसे तो इतना जीवन गुजर गया। अब अन्तमें होगा क्या, यह शरीर सिथिल होगा, वृद्धावस्था आयगी, शरीरका जो धर्म है वह तो चलता ही रहता है। यदि उन गुजरे हुए समयोंमें अभक्ष्य भक्षण न किया होता, दयाका पालन किया होता, दूसरोंको न सताया होता, सही सीधे व्यवहारमें रहे होते तो उससे आज घाटा क्या था, और दुराचारसे चले आये हो तो उसमें नफा क्या मिल गया ? बीता सो बीता, अब जो आगेका जीवन शेष है उसकी कुछ खबर रखनी चाहिए। हमारी प्रवृत्ति सही धार्मिक चले, और यह मोटा आचरण तो सबके होना ही चाहिए कि रात्रिभोजन न हो, और जो अभक्ष्य चीजें हैं—गोभीका फूल अथवा बाजारकी सड़ी गली चीजें (दही, जलेबी इत्यादि) ऐसी चीजोंका पूर्ण त्याग होना चाहिए। यथाशक्ति शुद्ध भोजनका प्रयास रखें। शुद्ध भोजन करने वालोंके चित्तमें यह भाव रहता है कि कोई पात्र मिलें तो उन्हें आहार कराकर खायें, इस सकल्पमें कितना पुण्यार्जन और विशुद्ध भाव बनता है। तो ये मोटे जो संयम हैं इसका पालन करे, इच्छाओंको न बढ़ाये। और, जो आय हो उसमें ही अपनी व्यवस्था बनायें, नई-नई इच्छाएँ न बनायें। सत्कार्योंको करें, अशुभ प्रवृत्तियोंका परित्याग करें, इससे ही अपनी कुछ भलाईका सिलसिला रह सकता है, नहीं तो मनुष्यभव पाया और यों ही खोया तो यह बडे खेदकी बात होगी कि नहीं, जैसे कहा था कि जन्म लेकर ससारमें भटकेगा।

अहो विभ्रान्तचित्तानां पश्य पुसां विचेष्टितम्।
यत्प्रपञ्चैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निष्फलम् ॥३४६॥

विभ्रान्तचित्त यतियोंकी चेष्टाकी जन्मनिष्फलत्वकारिता—जिसका चित्त भ्रान्त है, अपने आत्माके स्वरूपका परिचय न होनेसे और ज्ञानानन्दके उत्सुकताकी प्रकृति होनेसे परकी ओर जिसका ज्ञान और आनन्दके ढूँढ़ने

की व्यग्रता है अतएव जिसका चित्त भ्रान्त हो गया है ऐसे पुरुषकी चेष्टा तो देखिये कि कभी साधुपना अंगीकार करनेपर भी पाखण्डरूप प्रपचोंके द्वारा अपने इस नरजन्मको निष्फल कर देते हैं। जो बात जिस विधिसे, जिस योग्यतासे बनती है वह उस ही प्रकार होती है। ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव हो तो प्रत्येक बातमें ज्ञानमयताकी झलक होने लगती है और जब अज्ञानभाव बना हुआ है तो अज्ञानमयभाव ही बनते हैं। जब अपने लक्ष्य का पता नहीं है कि मुझे करना क्या है, मेरा साधन उपयोग है जो कुछ करता हू इस उपयोग द्वारा करता हू और उपयोगमात्र करता हू। तो मुझे अपने उपयगोंके द्वारा किस तत्त्वका उपयोग करना है, इसका निर्णय, इस के लक्ष्यका पता ही नहीं है तो वह उसका उपयोग कैसे कर सकता है ? इस लक्ष्यका परिचय पानेके लिए और इसपर उपयोग बनाये रहनेके लिए दृष्टिरूप यत्नकी आवश्यकता है और इसमें सहायक है मदकषाय। तो जिस किसी भी उपायसे आत्मपरिचय होता है वह हुआ नहीं तो उनका चित्त भ्रान्त हो जाता है। ससारजालसे छुटकारा पा लेनेका बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। जब तक ससार, शरीर और भोगसे निर्विर्णता प्रकट नहीं होती, अपने आपके आत्महितकी धुन नहीं बनती तब तक यह संसार सकट छूटनेका उपाय नहीं बनता। इसके लिए महान उत्सर्ग करना होगा, त्याग, मूर्छाका परित्याग, ममताका विनाश इतना बड़ा उत्सर्ग करनेका जिसमें साहस है और अन्त श्रद्धाका उत्सर्ग करता है वह ही पुरुष इस घोर ससारसमुद्रसे तिर सकता है। किन्तु, अज्ञानके कारण जिसका चित्त भ्रान्त है ऐसे पुरुषकी चेष्टाएँ तो अनेक विडम्बनाओंरूप होती हैं। जो पाखण्ड प्रपच करके अपना जन्म निष्फल कर रहे हैं ऐसे पुरुषोंके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती।

> भुक्ता श्रिय• कामदुघास्तत• किम्,
> सतर्पिताः प्रणयिन स्वधनैस्तत किम्।
> न्यस्त पद शिरसि विद्विषता तत किम्,
> कल्प स्थित तनुभृता तनुभिस्तत किम् ॥३४७॥

लौकिक लक्ष्मीके लाभकी व्यर्थता—इस लोकमें जीवोंके समस्त भावों को पूर्ण करने वाली यदि लक्ष्मी प्राप्त हो गई और ये वैभव साधन सब कुछ भोगनेमें आ गए तो जरा विवेक करके तो सोचो—उससे क्या लाभ है ? भोगोंको भोगा, ऐसा यदि कहते हैं तो इसपर भी विचार करनेसे यही निर्णय मिलेगा कि हमने भोगोंको क्या भोगा, हम भोगोंसे खुद भुग गए। भुगनेका अर्थ है बरबाद होना, हानिमें रहना। इस जीवनमें जितने भी भोग

भोगे गए हों उनमेंसे कुछ भी क्या अब हाथ है, साथ है। वे दिन निकल गए। उन दिनोंमें जो विकल्प बनाया उनसे यह आत्मा निःशक्त हो गया। इस इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुखके कारण इनके साधनोंके खोजनेमें ही व्यग्रता बनी रही। कोई पूछे कि इस जीवनमें तुमने क्या क्या काम किया है, इसपर तो प्रकाश डालो। तो सीधासा एक परिचय है कि हमें परपदार्थों से सुख होता है, इस भ्रमके कारण इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुखके साधनोंके खोजनेकी और संचय करनेकी व्यग्रता बतायी है। यह है इसका परिचय।

तो समस्त इच्छावों को पूर्ण करने वाली लक्ष्मी प्राप्त हुई, अथवा भोगनेमें आया तो उससे लाभ क्या हुआ? अपने आपकी ओर देखकर उत्तर दे सकते हो, मेरा चित्त कितना बलिष्ठ हुआ, सुखी हुआ, मस्त हुआ। आज तो वैसे ही वीरान, बरबाद असहाय अनाथ जैसे बने हो। अब भी परपदार्थों से अपनी रक्षा की आशा रखते हो। दीनके दीन बने हुए हो तो उस लक्ष्मीके भोगने से क्या लाभ हुआ? कुछ थोड़ासा कोई यह ख्याल करे कि अजी नाम तो हो गया तो किनमें नाम हो गया? मोहियोंमें, मलिनोंमें, दुखियोंमें, अनाथों में नाम हो गया। इस अनाथका अनाथोंमें नाम हो गया। जैसे कोई किसी की प्रशंसा करे—ये मूर्खोंके बादशाह हैं तो बादशाह नाम सुनकर खुश हो जाय तो उस बात सही क्या निकली? यह निकली कि ये मूर्खोंके बादशाह हैं, ऐसे ही अनाथमें, मूढोंमें, दुःखियोंमें ये अनाथ, ये मूढ़, ये दुखिया कुछ नाम चाहनेके लिए रात दिन वैभवसञ्चयका अनेक कारनामोंका विकल्प कर रहे हैं, यह है इसका दूसरा परिचय। इन प्राणियोंका सही और खासा परिचय बताया जा रहा है। जो लोग धनके कारण परिचय बतायें, साहब यह बहुत धनिक पुरुष हैं, इनके इतने मील हैं, यह झूठा परिचय है। जो उस पुरुषमें उस जीवमें जो कुछ पाया जाता हो उसका परिचय दीजिए। बाहरी बातोंका परिचय न दीजिए। मोहक परिचय, राग विकल्पका परिपरिचय है। यह है सही परिचय संसारके प्राणियोंका। कोई भी जान सके सो परिचय दो। जैसे कोई किसी भी जगहका आदमी हो और उससे कहो कि इसे देखिये यह कैसा क्या है? तो अपरिचित भी जो कुछ बात बता दे वह है सही परिचय। इनके इतने मकान हैं यह तो वह नहीं बता सकता क्योंकि वह परिचयकी चीज ही नहीं है। मकान है ही नहीं, इसका सकल सूरत, लम्बाई चौड़ाई जो सामनेका पिण्ड दिखता है उसका तो वह परिचय कर ही लेगा। यह तो हम आपको मालूम है कि यह इनका मकान है, इस मोहल्लेके हैं, इनके लड़के हैं, ऐसा घर है सो बकने लगते हैं। अपरि

चित भी कह देवे, परिचय बता देवे, यह सही चीज है। धन वैभवको कोई न बता सकेगा। जो आपके परिचयमें होंगे वे ही बतावेंगे।

कीर्ति अर्जनके श्रमकी विडम्बना—यहाँ संसारी प्राणियोंका सही परिचय खोजाया गया है। यह साहब और क्या कर रहे हैं, इन्होंने क्या किया, इसका परिचय देख लीजिए। विभ्रान्त बनकर केवल विरुद्ध आचरणोंकी विडम्बना ही इन संसारी प्राणियोंने की। आत्माका सच्चा बोध, सच्चा विश्वास और इस ओर ही लगना इस ओर कुछ भी यत्न होता है तो वह तो मोक्षमार्गकी बात है। इसके अतिरिक्त कुछ भी करो वह सब विडम्बना मात्र है, लोकके बड़े पुरुषोंकी बात सुनते हैं—राष्ट्रपति, मंत्री सभी देश विदेशोंके उनके ठाठबाठ और इसीसे लोग उनका बड़प्पन कूतते हैं और लोग इसीके लिए यत्न करते हैं, किन्तु है सब एक विडम्बना और मोहनींदका जैसा। आँखोंकी नींदका स्वप्न दो चार मिनटका होता है और यह मोहकी नींदका स्वप्न १०-२० वर्षका होता है, और मरनेके बाद इतिहासमें नाम आ गया तो समझ लीजिए दो चार सौ वर्षका हुआ। लेकिन इस अनन्तकालके सामने ये दो चार सौ वर्ष कुछ भी तो गिनती नहीं रखते हैं। स्वयम्भूरमण समुद्रके जलकी एक बूँद तो कुछ गिनती रखती है।

अपनेमें गुप्त रहकर अपने गुप्त श्रेयोलाभके कर्तव्यका स्मरण—भैया! अब लौकिक विकल्प छोड़कर कुछ आत्महितकी ओर आवो, अपने आपमें गुप्त ही होकर क्योंकि गुप्त ही किया जाता है, खुलकर भी करे तो भी वह गुप्त ही रहता है। प्रकट तो होता ही नहीं है। कल्याण भी सबका अपने आपमें है। आत्महित कर लेनेमें ही विवेक है, बुद्धिमानी है। आप किसीकी प्रवृत्ति देखकर अनुमान तो कुछ कर लेंगे, मगर सही कुछ नहीं बता सकते। वह तो सब उनकी जिम्मेदारीपर है। जैसे आप किसीके बारेमें स्पष्ट प्रमाणिक ढंगसे क्या यह बता सकते हैं कि यह पूर्ण नम्र पुरुष है, इसमें अभिमानका रच भी नाम नहीं है। अनुमानसे तो बता दोगे और करीब करीब सही उतर जायगा, लेकिन प्रामाणिकरूपसे कोई कह नहीं सकता, क्योंकि जैसी चालढालमें एक नम्र पुरुष रहता है। कोई अपने आपमें महत्त्वकी आकांक्षा रखने वाला अर्थात् अभिमानसहित पुरुष भी वैसी ही नम्रता और मुद्रासे अभिमानको पुष्ट कर सकता है। अभिमानमें यह बात तो है कि लोग मुझे महान समझें। किसी बच्चेको राजा बेटा कहकर जो चाहे काम करा लेते हैं लोग, वह अपने चित्तमें यह अनुभव करता है कि मैं राजा बेटा हो गया हू। तो यों ही जैसे कहते हैं बोलीमें लखनऊ जैसी नजाकत। ऐसे नम्र शब्द और उन ही नम्र शब्दोंमें मद भरा हुआ है। कोरे मुद्रासे

बोलना, कुछ ढ से बोलना और उससे ही अभिमानके आशयकी पुष्टि भी खूब हो सकती है, तो किसीकी ऊपरी चेष्टा देखकर आप अनुमान तो बना सकते हैं पर प्रामाणिक ढगसे नहीं कह सकते हैं कि यह कैसा है ? तब तो यही सहारा है कि सबकी अपनी-अपनी करनी अपनी भरनी। जिसके चित्तमें जैसा होगा वैसा पायगा। एक अभिमान कषायकी ही बात क्या ? किसी भी कषायको आप प्रामाणिक ढंगसे नहीं कह सकते। कई क्रोध प्रकृति वाले लोग भी ऐसे होते हैं कि भीतर क्रोधमें भुनते रहें और ऊपरी मुद्रामें वचनमें बड़ी शान्तिकी बा रखें। मुद्रासे व्यवहारसे यह अनुमान तो किया जा सकता है कि यह बहुत शान्त पुरुष है, पर कुछ निर्णय नहीं है। क्रोध करनेकी हो यह विधि हो शायद तो, इस तरह भी अनेक क्रोध करते हैं। मायाचार तो कहते हो उसे हैं कि कुछ पता ही न चले भीतर के आशयका। उसमें तो कोई निर्णय ही क्या कर सकता है, क्या है इसके चित्तमें। और, लोभकषायकी बात बडे त्यागसे उदारतासे, दानसे अनेक बातोंसे तो यह जान जावोगे कि यह बड़ा निर्लोभी पुरुष है, पर लोभका प्रसग क्या केवल धनके छोडनेसे ही मिट जाता है ? महत्त्वका लोभ, यश का लोभ, कीर्तिका लोभ अनेक चीजें होती हैं। यद्यपि धनका त्याग करना उदारताकी ही बात है, लोभके ही विनाशकी बात है और निर्लोभ पुरुषकी ऐसी वृत्ति हो सकती है, लोभी पुरुष दान नहीं कर सकता है। जो निर्लोभ होगा वही तो दान कर सकता है। पर कुछ निर्णय तो नहीं है कि इतना त्याग करनेके बाद हम उसे निर्लोभ ही कह सकें। तब फिर सब बातें वही गुप्त ही गुप्त हैं। जिम्मेदारी सबकी अपने आपपर है। जो जैसा आशय रखेगा वह वैसा अपना फल भोगेगा, इस कारण कल्याणार्थी पुरुषोंका यह कर्तव्य है कि वे अपने आपके शुद्ध आशयकी सम्हाल रखें और इस आत्म-तत्त्वकी ओर दृष्टि बनायें, ज्ञान बनाये, आचरण करें, इसमें ही अपना श्रेय है।

इत्थं न किञ्चिदपि साधनमाध्यमस्ति,
स्वप्नेन्द्रजालसदृश परमार्थशून्यम्।
तस्मादनन्तमजर परम विकाशि,
तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनाऽस्ति ॥३४८॥

परमार्थशून्य इन्द्रजालकी उपेक्षा करके ज्ञानानन्दमय निजतत्त्वकी उपासना करनेका अनुरोध—इस जगतमें धन, स्नेह कीर्ति आदिसे कुछ भी करनेके योग्य नहीं है। अपने आपसे बाहर बाह्यपदार्थोंमें कुछ भी करनेके योग्य नहीं है। जगतके कार्य सब इन्द्रजालकी तरह हैं। अथवा स्वप्नकी तरह

हैं, परमार्थशून्य हैं, जैसे कि इन्द्रजालमें होता कुछ नहीं, सिर्फ दिखता है। इसका नाम इन्द्रजाल क्यों रखा। जो ऐसी चीज हो कि जिसका आधार तो कुछ नहीं है और मालूम पड़ता है उसे लोग इन्द्रजाल कहते हैं, उसका नाम इन्द्रजाल इसलिए रखा है कि इन्द्रके मायने है आत्मा और उसका जाल मायने एक मायारूप परिणमन। जैसे रागद्वेषादिक भाव या अनेक जन्म, अनेक योनियोंमे जन्म लेना। ये सब वास्तवमें कुछ नहीं हैं और लगतेसे हैं। इसलिये स्वप्नमें भी जब कोई स्वप्न आता है मैं इस चीजको छू रहा हू, पकड़ रहा हू, वृक्षपर चढ रहा हू तो खूब लगता है ना कि मैं वृक्षको पकडे हू। है क्या वहाँ ? कुछ भी नहीं है। स्वप्नमें दिखता है कि दीवालपर या सीढियोंपर चढ रहे हैं, पर है वहाँ कुछ भी नहीं; तो इसी तरहसे एक दृष्टिसे देखिये—मोहकी कल्पनाओंमें सब कुछ ठीक जच रहा है ना। मैं ही तो हू यह, ये अमुक हमारे रिश्तेदार ही तो हैं, अमुक हमारे परिजन ही तो हैं। ऐसा खूब डटकर लग रहा है पर हैं ये कुछ नहीं, यह कैसे मालूम हो ? जिसकी मोहनींद टूट गई हो और परमार्थ आत्मस्वभाव का परिचय हुआ हो वह ही तो कह सकेगा कि यह सब मायाजाल है। तो यह सब इन्द्रका पूरा हुआ जाल है, आत्माका बनाया हुआ जाल है, इसका नाम इन्द्रजाल है, फिर इसकी तुलनामें इन्द्रजालमें भी जो और इन्द्रजाल है। जैसे कुछ है नहीं—दिखा दे मिस्मरेजम या नजरबन्दी या और बातें वे भी इन्द्रजाल इसीसे कहलाती हैं। वास्तवमें कुछ नहीं है और दिखा देते हैं। तो इस जगतमें बाहरी पदार्थोंमे करने योग्य कुछ भी काम नहीं है। वे सब क्षणविनश्वर हैं और परमार्थसे शून्य हैं, इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि हे प्राणिजनो ! यदि तुममें चेतना है, बुद्धि है, सुध है तो परम उत्कृष्ट स्वरूप अपने ज्ञानानन्दस्वभावकी वाञ्छा करो।

स्वभावके अनुभवमें आनन्दका विकास—शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभावके अनुभवमे ही आनन्द है। अन्यत्र कहीं आनन्द तो है ही नहीं। जो अपने ज्ञानान्दस्वभावसे परिचित नहीं हैं, यह निधि जिनके उपयोगरूपी हाथमें नहीं आयी है वे सब गरीब हैं, संसारमें भटकने वाले हैं और भ्रमसे कल्पनाएँ करते हैं। किसीके पुण्यका उदय है तो पुण्यका बड़ा घर बना लेता है और किसीके पुण्यका कम प्रसाद है तो अपने पुण्यका छोटा घर बना लेता है। किन्तु, हैं वे सब एकसे गरीब। जिनको आत्माके ज्ञानानन्दस्वभावकी सुध नहीं है वे सब गरीब हैं व आकुलता सहते रहते हैं। हे प्राणिजनो ! यदि कुछ भी तुम्हें अपनी दया है, अपनी सुध है, तो परम उत्कृष्ट प्रकाशरूप आत्मीय ज्ञानानन्दस्वरूप अपने अतस्तत्त्वकी इच्छा करो।' बाहरी

पदार्थोंकी इच्छा मत करो। श्रद्धा सही बना लो और ऐसा बहाना मत लो कि हमारी श्रद्धामें तो हमारा आत्मा ही शरण है। बाहरसे उपेक्षा है, यहाँ तो गृहस्थीमें रहते हैं सो कर्तव्य निभाने पड़ते हैं ऐसी अन्तरङ्गमे बहानेबाजी न करें, ऐसा होता तो है, पर किसीके होता है और कोई बहाना करता है, दोनो ही बातें हैं। इसका पता कैसे पडेगा कि इसकी ज्ञानदृष्टि तो सच्ची जगी है और गृहस्थीमें कर्मवश रहना पड़ रहा है ऐसा निर्णय कौन करे, अथवा यह केवल बहाना करके कह रहा है, ज्ञानदृष्टि कुछ नहीं जगी।। लिखा है ग्रन्थोंमें कि 'चारित्रमोहवश लेश न संयम पै सुरनाथ जजे हैं।' चारित्र मोहके उदयमें संयम नहीं होता है सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके। घरमें रहता है वह, फिर भी देवेन्द्र भी उसका आदर करते हैं। तो इस लोभसे अपनी मुद्रा अपने वचन दुनियामे ऐसे बनाया कि हमको घरकी कुछ फिकर नहीं है, कुछ भी मोह नहीं है। वह तो चारित्र मोहनीयके उदय से करना पड़ता है तो यह बहाना है या वास्तविकता है, इसका कौन निर्णय करे? स्वय निर्णय करें या केवली भगवान करें। तो प्रभु न जाने उससे कुछ नुक्सान नहीं है क्योंकि जो जानते हैं वे हमे कहने नहीं आते और जो कहने वाले हैं वे कुछ निर्णय नहीं जानते। तब फिर सारी जिम्मेदारी अपने आपपर है। जैसा कर लो सो भोग लो। जगतके इन बाह्यपदार्थोंमें रच भी वाञ्छा मत करो। ये जगतके कार्य स्वप्नके समान हैं उस ओरसे उपेक्षा करें, अन्तर्दृष्टि करके सही मायनेमें अपने स्वभावकी आस्था बनावे। जो जन्म जरा मरणरहित है उस ज्ञानानन्दस्वरूपकी भावना रखें।

लगनसे अन्तस्तत्त्वकी उपासनामे लाभ—जैसे कामी पुरुषके हृदयमें निरन्तर स्त्री या पुरुष बसा ही रहता है वैसे ही लगनके साथ हम अपने ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्माको हृदयमें बसाये रहें। जैसे कोई विषयाभिलाषी अपनी विभूतिपर दिवाना हो जाता है ऐसे ही तुम अपने अन्तर्गुप्त रहकर अपने अत चैतन्यस्वभावमें दिवाना बनो। यह बात सब अपनी अपनी खुद जान सकते हैं। इतनी लगन बन सके तो वह ध्याता है, और प्रशसनीय है। ध्याताके स्वरूपका यह अधिकार है। और अब यह पूर्ण हो रहा है, समाप्त हो रहा है, लोग तो समाप्तका अर्थ लगाते हैं खतम हो जाना, पर खतम हो जाना और पूर्ण हो जाना, इन दोनोंका एक अर्थ है। किन्हीं किन्हीं प्रसगोंमे हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी, इसका अर्थ क्या? हमारी इच्छा खतम हो गयी। इसके सिवाय और कुछ बात हो तो बतावो। जैसे बोरेमें गेहू भर भरकर बोरा पूरा हो जाता है क्या इस तरह आत्माकी इच्छा भर-भरकर इच्छा पूर्ण होती है? खूब सोच लीजिए। इच्छा खतम

होनेके मायने हैं कि इच्छा पूरी हो गयी। अब समझ लीजिए। जैसे कहते हैं कि भगवानको सब कुछ मिल गया है, इसका अर्थ क्या है कि उनके कोई इच्छा ही नहीं है सो सब कुछ मिल गया। तो ऐसे ही यह अधिकार समाप्त हो रहा है इसका अर्थ अपने आपके चित्तमें यह लगाना चाहिए कि इस अधिकारमें जिस लक्ष्यका संकेत चला है वह इसमें पूर्ण हो जाय तब अधिकारकी समाप्ति सही है।

किं ते सन्ति न कोटिशोऽपि सुधियः स्फारैर्वचोभिः परम्,
ये वार्तां प्रथयन्त्यमेयमहसा रशे परमब्रह्मण।
तत्रानन्दसुधासरस्वति पुनर्निमज्य मुञ्चन्ति ये,
सन्ताप भवसंभवं त्रिचतुरास्ते सन्ति वा नात्र वा ॥३४६॥

अन्तस्तत्त्वके रुचिया व रचिया विद्वान सन्तोंकी विरलता–लोकमें बड़े बड़े व्याख्यानोंसे जो अमर्याद प्रतापी परमात्माकी वार्ता फैलाते हैं ऐसे ऐसे करोड़ों विद्वान क्या हैं नहीं? अवश्य हैं, परन्तु उस परमब्रह्मस्वरूपकी मूर्तिमें मग्न होकर जो संसारके संतापको नष्ट कर सकते हैं ऐसे पुरुष जगतमें विरले ही हैं। अथवा कह लीजिए कभी नहीं भी होते हैं किसी क्षेत्रमें। ऐसा तो नहीं है कि कोई समय ऐसा हो कि इस लोकमें कहीं भी मुनि न हों, श्रावक न हों, सम्यग्दृष्टि न हों, ऐसा एक भी समय नहीं है, यहाँ नहीं तो और कहीं पर इस लोकमें सदैव सभी गुणस्थानवर्ती मिलेंगे। सिर्फ ऐसा हो सकता कि अयोगकेवली भगवान और श्रेणीके साधु ये किसी समय कहीं भी न हों यह तो सम्भव हो सकता है। ८वें, ६वें, १०वें, ११वें, १२वें, १४वें गुणस्थान ये गुणस्थान न किसी समय हों यह हो सकता है और साथ ही दूसरे और तीसरे गुणस्थान ये भी किसी समय न हों यह हो सकता है, लेकिन मिथ्यादृष्टि सदैव मिलगे और चौथे गुणस्थान वाले, पचम गुणस्थान वाले, छठे, सातवे, गुणस्थान वाले और १३वें गुणस्थान वाले सदैव मिलेंगे। एक समयका भी अभाव नहीं है। लेकिन जितने क्षेत्रमें अपना परिचय है, दिमाग जाता है, सोचनेकी बुद्धि जगती है उतने क्षेत्रमें न भी हो कोई। जैसे कोई विद्यार्थी ६-१० महीने पढ़ता है, खूब पढे और परीक्षाके दिनोंमें गैरहाजिर रहे तो उसके पढ़नेसे क्या लाभ? जो व्यक्ति परीक्षासे मुँह चुराते हैं वे ज्ञानार्जनका ध्येय नहीं रखते हैं। छात्रोंमें तो यह होता है कि पढें और परीक्षा दें, पास हों आगे बढें। ऐसे ही खूब ज्ञान कर, खूब व्याख्यान करें, खूब सुनें, खूब स्वाध्याय करें और उसकी परीक्षा दे। वह परीक्षा क्या है? संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर किसी क्षण अपने स्वभावकी दृष्टिमें अपनेको लगाना, यही है धार्मिक ज्ञानकी

परीक्षा। उससे मुँह चुराये, उसके लिए प्रमाद रखे, उसकी भावना ही न बनाये, बस खूब शास्त्र देखें रटें, किसीकी भी शंका हो उसका समाधान करें, कोई कुछ भी पूछे उसका उत्तर दें इतना ही मात्र उद्देश्य रखें तो वह उसी छात्रकी तरह है जो पढ़े और परीक्षासे मुँह चुराये। ज्ञानार्जनका फल तो अंतस्तत्त्वकी दृष्टि बनाना है तो बड़े-बड़े व्याख्यानोंके करने वाले अनेक विद्वान हैं, पर वे सच्चे विद्वान तभी हैं जब परमात्मस्वरूपमें लीन होनेका यत्न करें।

सरल सहज अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका कर्तव्य--भैया! सहज परमात्मतत्त्वकी उपासना बड़ा सरल काम है, दृष्टि विशुद्ध चाहिए, सरलता चाहिए। अपने आपके प्रभुसे मिलना बहुत सुगम कार्य है। यह कार्य यदि कर लिया तो समझ लीजिए कि अनन्त भव बीत तो गए, पर यह भव सफल हुआ समझिये। अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब आत्महित करना इतना सुगम है तो फिर लोग इसको सुगमतासे कर क्यों नहीं लेते? जब सुगम होनेकी पात्रता होती है तब तो सुगम है और जब विषय-कषायोंमें अध रहता है, जब आसक्त रहता है, मोह करता है तब इसके लिए अति दुर्गम है। लेकिन विधि देखिये जिसे होता है उसे सुगम होता है कि नहीं? सहज होता, सुगम होता। और सत्संगका लाभ भी यही है। जो ज्ञानीजन हैं, गृहस्थ हों, यती हों उन सबका जो परस्परका संग है, उठना बैठना है उसका लाभ तो यह है कि कोई किसी कषायमें बढ़ रहा हो, किसी कुपथमें जा रहा हो तो उसे चेताएँ। यहाँ आन्तरिक वृत्तिपर अधिक ध्यान देना चाहिए। किसीके कुछ घमंडसा बन रहा हो, युक्तिपूर्वक बड़े सद्वचनोंसे समझाइये कि क्यों घमंड करता है, ऐसा परिणाम ही तुम क्यों बनाते, मोक्षमार्गसे क्यों भ्रष्ट होते। उसे उस कषायसे हटाना, यही है सच्ची मित्रता। धर्मात्माओंका धर्मात्माओंके प्रति जो सम्बन्ध होता है वह सम्बन्ध कुटुम्बसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। और, जिसे धर्मकी सच्ची लगन है वह अपने तन, मन, धन, वचन सबका अधिकसे अधिक प्रयोग धर्मकी साधनामें करेगा, कुटुम्बके मोहमें न करेगा। कर्तव्य वह भी है मगर उसमें सामर्थ्य है ऐसी कि किसी समय तन, मन, धन सब कुछ न्योछावर धर्मके लिए करना पड़े तो कर सकता है इतना उसके साहस है। तो ज्ञानार्जनका फल अपने आपके प्रभुके दर्शन करते रहना यह सब है, क्योंकि शान्ति और आनन्द इसी तत्त्वके दर्शनमें हैं।

एते पण्डितमानिनः शमदमस्वाध्यायचिन्ताच्युताः,
रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसतृष्णाननाः।

व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिता शङ्काभिरङ्गीकृता ।
न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः ॥३५०॥

पण्डितमानियोंके आशयकी सविनाशकारिता— जो पण्डितमानी हैं सही मायनेमें पण्डित तो नहीं है, किन्तु अपनेको पण्डित समझते हैं और शम दम स्वाध्याय इनसे रहित हैं, किन्तु इनकी भी चिन्ता करते हैं। हमें स्वाध्याय करना पड़ रहा है, अब समय आ गया, अब प्रवचन करना पड़ेगा तो ये तो उससे रहित हैं जो इनकी चिन्ता करे, पर उत्सुकता न जगे, सो शान्ति, इन्द्रियदमन और ज्ञानार्जनके लिए तो उनसे रहित समझिये। और, भी बतायेंगे। ऐसा पुरुष न तो ध्यान कर सकता, न तप कर सकता। पंडितका अर्थ है—पण्डा इत इति पण्डितः। जो उत्कृष्ट बुद्धिको प्राप्त कर लेवे उसे पण्डित कहते हैं और, विद्वानका अर्थ है वेत्ति इति विद्वान, जो बहुत अधिक जानकारी रखे उसे विद्वान कहते हैं। विद्वानसे पण्डितका दर्जा ऊँचा है। पर, लोकमें जो रसोई बनाता है उसे भी पण्डित कहते हैं। तो जो पण्डितमानी पुरुष हैं, ज्ञानार्जनके यत्नसे रहित हैं, रागद्वेष मोह आदि पिशाचोंके कारण जो सचित हैं वे ठगाये गये हैं, और, फिर अपनेको साधु के भेषमें रखकर लोगोंके साथ जो दम्भ करते हैं, जिनमें मुनिपनेके गुण नष्ट हो गए हैं और जो स्वयं अपना मुख काला करते हैं, कृष्णानन रहते हैं, घमंडसे प्रसन्न रहते हैं, शंका, संदेह, शल्य इनसे जो ग्रस्त रहते हैं ऐसे ये रंक पुरुष हैं, वे न ज्ञानमें समर्थ हैं, न ध्यानमें समर्थ हैं, न तप ही करनेमें समर्थ हैं।

आत्महितके उद्देश्यसे ज्ञानार्जनमें प्रगति करनेका लाभ—इस अधिकारमें ध्याताके गुण और दोषोंका वर्णन किया है। गुण तो सबसे पहिले बताये गए थे कि मोक्षकी इच्छा हो, संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य हो, शान्त चित्त हो, मनको वश रखने वाला हो, इन्द्रियको जीतने वाला हो वही ध्याता प्रशंसनीय है, और जब ध्याताके दोष बताये तो प्रथम दोष तो गृहनिवास बताया, गृहनिवासमें ध्यानकी सिद्धि नहीं है, इसके बाद फिर अन्य मतव्य बताया, फिर मिथ्यादृष्टियोंका वर्णन किया। जो संसार, शरीर भोगोंमें ही अपनायत करते हैं वे मिथ्यादृष्टि भी ध्यानके पात्र नहीं। फिर पाखण्डियोंको ध्यानके अयोग्य बताया, जो नाना भेष रखते हैं, जहाँ संयम नहीं है वहाँ विशुद्ध ज्ञान न होनेके कारण वे भी ध्यानके पात्र नहीं हैं, और अन्तमें बताया है कि जो जैनके साधु कहकर आचारसे भ्रष्ट हैं, जो साधुभेष रखकर केवल इसमें ही सन्तुष्ट हैं कि हमारी तो खूब आजीविका चल रही है, कहाँ कमाते, कहाँ जाते, सब मुफ्तमें ही काम हो रहा है, सेवा

भक्ति भी हो रही है, इतनेमें ही जो सन्तुष्ट हैं और इतना हो नहीं, किन्तु मायाचार रखकर लोगोंके साथ दम्भ भी रखते हैं, ऐसे साधुवोंके भी ध्यान करनेकी योग्यता नहीं है। यह अधिकार पूर्ण हो रहा है। इससे हम यह शिक्षा लें कि हम आत्महितकी दृष्टिसे ज्ञानार्जन करें और कुछ यह महसूस करें कि हम अन्य-अन्य बातोंमें कितना समय खोते हैं और ज्ञानार्जनके लिए हम कितना समय लगाते हैं? गृहस्थ भी चाहें तो वे भी २४ घंटेमें करीब २-३ घंटा समय ज्ञानार्जनके लिए निकाल सकते हैं। खूब सोच लीजिए, हम अपना कितना समय बैठनेमें, व्यर्थकी गप्प सप्प करनेमें लगाते हैं। ज्ञानार्जन करें और कषायोंको मंद करें, इस ही उपायसे इस दुर्लभ नर-जन्मको सफल करें, यह शिक्षा हमें लेना चाहिए।

❀ समयसार प्रवचन पञ्चम भाग समाप्त ❀

मुद्रक—मैनेजर, जैनसाहित्य प्रेस, रणजीतपुरी सदर मेरठ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः प्राप्स्यन्तिचापुरचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमन्त्रं, ॐ मूर्ति मूर्तरहितं स्पृशत स्वतन्त्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् २॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरसमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥